सामयिक साहित्य-माला। छठा पुष्प। सम्पादक श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

ज्वार-भाटा

लेखक —

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक —

सामयिक साहित्य-सदन (रजिस्टर्ड),

चेम्बरलेन रोड, लाहौर।

प्रकाशक —
श्री उमाशंकर त्रिवेदी एम० ए०
व्यवस्थापक—सामयिक साहित्य-सदन,
चेम्बरलेन रोड, लाहौर।

मूल्य २।)

प्रथम संस्करण, मार्च १६४४।

मुद्रक
रघुनाथ सहाय थापर,
वैस्ट एंड प्रेस, लाहौर।

You must read this book. It is a good book. Many interesting stories are included in this book. Must lend to him who will read this book.

सूची

ज्वार-भाटा

बात ऐसी अधिक पुरानी नहीं है। दो वर्ष से कम ही की बातें हैं। आज तो स्थिति बदल गयी है। जनार्दन ने अपनी एक जीवन-संगिनी बना ली है, किन्तु उस समय स्थिति दूसरी थी। पूर्णिमा अपनी बहिन शारदा के विवाह से लौट रही थी। साथ में उसका पति विनोद था और गोद में थी दो वर्ष की शशि। गाँव से वह बैलगाड़ी पर आकर कानपुर-सेन्ट्रल स्टेशन पर गाड़ी के एक डब्बे में, बैठी हुई थी। विनोद टिकट लेने गया हुआ था। अतः कुछ मिनिटों के लिए, उसे अपने डब्बे में, अकेला रहना पड़ा था। यों प्लेटफ़ार्म पर और उस के पास के डब्बों में काफ़ी भीड़ थी। उसी समय मालूम नहीं कहाँ से आगया जनार्दन। दुर्बल शरीर, गौर-वर्ण, सिर पर बहुत साफ़ गाँधी टोपी, बदन पर रेशमी खद्दर का कुरता और खद्दर की बारीक धोती और पैरों में मुलायम चप्पल। उसका ध्यान दूसरी ओर था। वह कुछ सैनिकों को देख रही थी, जो बर्मा से लौटे थे और जिनके अंग भंग थे। एकाएक उसे किसी के पैरों का मुलायम स्पर्श का भान हुआ। मुड़कर ज़ो देखा, तो अवाक् हो उठी। एक दम से जैसे सकपका गयी। क्षण भर तक तो खुद भी नहीं कह सकी। किन्तु वह तो जनार्दन था न, चुप कैसे रहती। बोली—ओह, तुम हो जनार्दन भैया। लेकिन यहाँ कैसे ?

जनार्दन ने उसके प्रश्न का उत्तर न देकर पूछा—शुक्ल जी कहाँ गये ?

उसने कहा—टिकट लेने गए हैं, अभी-अभी।

वह बोला—इधर अक्सर यों ही चला आता हूँ। सोचा शारदा के ब्याह में तुम आयी ज़रूर होगी। और यही एक ट्रेन है, जिससे तुम को इधर जाना होता है।

आज लगातार इसी समय आते पाँचवाँ दिन है।

क्षण भर तक पूर्णिमा चुप रही। जी में आया स्पष्ट रूप से कह दे,—मैंने तुम से कितनी बार प्रार्थना की कि अब मुझे भूल जाओ। समझ लो कि पूनो मर गयी। किन्तु वह कुछ कह न सकी। वह सोचने लगी, उसे इस समय क्या-क्या पूछना चाहिए।

जनार्दन बोला—आज कितने दिनों के बाद तुम्हें देखने का अवसर मिला है। यों चाहता, तो मैं भी इस निमन्त्रण में सम्मिलित हो सकता था। वर पक्ष के लोगों से भी मेरी कम घनिष्ठता नहीं है। निमन्त्रण भी मिला था। पर मैंने सोचा—तुम्हें कष्ट होगा।

पूर्णिमा बोली—अच्छा किया जो नहीं आये। यहाँ—भी ....।"

कहते-कहते रूमाल से उसने अपना मुँह ढक लिया।

जनार्दन बोला—क्या करूँ पूनो। क्या मैं इतना भी नहीं समझता कि तुमसे मिलना-जुलना अब तुम्हारे लिए कितना भयावह है। किन्तु जी नहीं मानता। लाख बार जी को समझाता हूँ। किन्तु मुझे इस बात पर विश्वास ही नहीं होता कि तुम

दूसरे की हो गई हो। कितनी बार इस बात पर हम लोगों की बातें हुई थीं। सदा हो तुम ने यही विश्वास दिलाया था कि हम कभी अलग हो नहीं सकते।

भीड़ छट गई थी। प्लेटफ़ार्म पर पान-बीड़ी, फल-मिठाई और दूध-चाय आदि के सेवक-विक्रेता लोग ही अपनी-अपनी आवाज़ लगाते और सौदा बेचते देख पड़ते थे। रेल के यात्री डब्बे से उतर कर इधर-उधर किसी वस्तु को चटपट ख़रीद कर अपनी जगह पर लौट आने में व्यस्त थे।

पूर्णिमा किसी प्रकार, प्रकृतिस्थ होकर बोली—तुम विवाह क्यों नहीं कर लेते? इस तरह कितने दिन चलेगा?

इसी क्षण विनोद आ गया।

सामने आते ही जनार्दन ने उन्हें नमस्कार किया। बोला—मैं यहाँ एक मित्र को भेजने आया था। मैं जा ही रहा था कि देखा; पूनो है। अच्छा हुआ आप के भी दर्शन हो गये। व्याह में ही भेंट हुई थी। आपको भला स्मरण क्या होगा।

विनोद ने कहा—स्मरण क्यों नहीं है। उस समय शायद आप बी० ए० प्रीवियस में पढ़ रहे थे। नाम भी आप का मुझे याद है। जनार्दन है न?

जनार्दन आश्चर्य से चकित हो उठा। उसके मुँह से यकायक निकल गया—अच्छा, आपको मेरा स्मरण खूब रहा।

इसी क्षण गाड़ी ने सीटी दी। और तभी तत्काल जनार्दन ने पाँच रुपये का एक नोट शशि को देकर उसे चुमकारते हुए प्यार किया और पूर्णिमा के चरणों की धूल मस्तक से लगा ली।

पूर्णिमा यकायक विस्मय, आनन्द और एक प्रकार के अकल्पित सम्भ्रम से चौंक पड़ी। बोली—"यह न होगा जनार्दन भैया। नोट लौटा दे शशि, मम्मा को।"

शशि ने एक बार जनार्दन की ओर देखा, एक बार माँ को। विनोद चुपचाप था। पूर्णिमा उस नोट को शशि के हाथ से लेकर उसे वापस देने लगी।

जनार्दन भूल गया वह क्या कह रहा है। वह यह भी भूल गया, वह कहाँ है। उसे यह भी खयाल न रहा कि पूनो अकेली नहीं है उसका पति पास बैठा है। चरण-स्पर्श करते क्षण जब वह तुरन्त चल देने को तत्पर हुआ तो भावावेश में उसकी आँखें भर आयीं। किन्तु जब पूर्णिमा शशि के हाथ से नोट छीन कर उसे वापस करने लगी, तब वह अपने भावों को रोक न सका। उसने कह दिया—'मैं...मैं किसी योग्य नहीं हूँ पूनो। मेरी कोई सामर्थ्य नहीं है। किन्तु, तुम्हीं सोच देखो, क्यों मैं इस तुच्छ भेंट के लिए भी महँगा हूँ। क्या मैं इतनी दूर जा पहुँचा हूँ कि शशि को .... ।"

बात अधूरी रह गयी और ट्रेन चल दी। जनार्दन ने एक बार फिर पूर्णिमा का चरण-स्पर्श किया। एक बार फिर शशि की चुम्मी ली, एक बार फिर उसने विनोद को नमस्कार किया। और वह प्लेटफार्म पर आगया।

अब ट्रेन मोशन पर थी। क्षण भर बाद उसका डब्बा प्लेटफ़ार्म के छोर को भी पार करने लगा। पूर्णिमा ने खिड़की से जो सिर निकाल कर देखा तो देखा, उसी ओर देखता हुआ जनार्दन अपना रूमाल हाथ से उठाये हिला रहा है।

ट्रेन कानपुर सेन्ट्रल से आगे बढ़ गयी। विनोद कुछ क्षणों तक मौन रहा। उस ने लक्ष्य किया, पूर्णिमा कुछ उदास है। टिकट लेने के लिये जब वह तीसरे दर्जे के टिकट घर की ओर जाने लगा था तब तो वह ऐसी उदास न थी। जनार्दन के आ जाने से ही वह कुछ आत्मगत हो गई है। जनार्दन कौन है और उसका पूर्णिमा के साथ क्या सम्बन्ध है, विनोद इतना जानता है। किन्तु वह कोई ऐसा सम्बन्ध है, जो पूर्णिमा की जीवन-धारा में एक विक्षेप उपस्थित कर सकता है यह वह नहीं जानता। तभी वह सोचने लगता है, यह बात क्या है कि पूर्णिमा कुछ बोल नहीं रही है।

अबोध शशि एक अजनबी के आने से कुछ उलझन में पड़ गयी थी। अब वह फिर खेलने लगी। वह क्या जाने कि जो आदमी अभी कुछ देर पहले उसे कागज़ का टुकड़ा दे गया है, वह आया क्यों और कागज़ का यह टुकड़ा क्यों दे गया, यह सब भी उसके सोचने का विषय नहीं है। उसकी मौसी ने रबर का एक कुत्ता उसे दिया था, वह उसी के कान पकड़ कर नोच रही है। कभी उसे मुँह में ले जाकर दाँत से काटती है, कभी उसके कानों को दोनों हाथों से खींचती है।

पूर्णिमा ने उसकी यह हरकत जो देखी, तो बोली- इस तरह तो यह आज ही खतम हो जायगा, शशि। इसको नोचा नहीं जाता। यह खिलौना है।

शशि ने ज़रा सा हँसते और आगे के दोनों दाँतों को झलकाते हुए कहा—हलौना ?

विनोद ने झट उसे पूर्णिमा के पास से उठा लिया, गोद में भरकर उसकी चुम्मी ली और उसके प्रश्न को दोहरा कर उसी

तरह पूछा —हनौना ? किन्तु इसी क्षण उस ने पूर्णिमा की मुद्रा में थोड़ा सा परिवर्तन लक्ष्य किया। देखा, वह प्रकृतिस्थ हो गयी है। तब उसे चुहल सूझ पड़ी। शशि से उसने पूछा—अभी थोड़ी देर पहले कौन आया था, शशि ?

शशि पूर्णिमा की ओर देखने लगी।

विनोद ने फिर पूछा—जो तुझे नोट दे गया था वह कौन था, बता तो।

शशि फिर पूर्णिमा की ओर ताक कर रह गयी। किन्तु वह इस बार स्वतः चुप न रह सकी। बोली—वह क्या जाने, उसे क्या मालूम ? पागल की सी बात करते हो।

. विनोद ने पूर्णिमा की बात पर ध्यान नहीं दिया। आप ही वह उसे गुदगुदाकर हँसाता और मुँह के पास मुँह ले जाकर कहता रहा—वह मम्मा था तेरा, मम्मा। ·मम्मा था, मम्मा।

पूर्णिमा बोली—ज्यादा न हँसाओ लाओ दो मुझे, पेट में पानी हो जायगा।

विनोद ने कुलकुलाना तो बन्द कर दिया, किन्तु फिर उसके बाएँ गाल को छेड़ छेड़ कर अँगुली से हिला-हिला कर पूछना शुरू किया। कौन था, शशि बता तो। —हाँ, बताना तो।

अबकी बार शशि ने हिम्मत की। बोली—मम्।

फिर क्या था पूर्णिमा का रोम-रोम जैसे खिल उठा। विनोद भी प्रसन्नता से कम पुलकित न हुआ। बोला—शाबाश !

पूर्णिमा बोली – लाओ तो इधर। इसी तरह इसको नज़र लग जाती है। तुम को क्या ! परेशानी तो मुझे होती है—और उसने विनोद की गोद से उसे ले लिया। शशि को पूर्णिमा की गोद में देते

हुए विनोद कहने लगा—नज़र-वज़र कुछ नहीं, कोई चीज़ नहीं। तुम लोगों की एक व्यर्थ की भावना-मात्र है।

गोद में आते ही शशि माँ के स्तन को टटोलने लगी और पूर्णिमा ने उसे साड़ी के भीतर कर लिया।

विनोद कुछ उस प्रकार का व्यक्ति है, जो शंकाओं को हृदय में पलने नहीं देना। उनका अंकुर देखते ही उन्हें मसल डालता है। आचार-व्यवहार में स्पष्टता उसे अधिक प्रिय है। बल्कि एक तरह से यह स्पष्टता उसके स्वभाव में परिणत हो गयी है। अभी थोड़ी देर पहले न केवल जनार्दन की उपस्थिति में वरन् उसके बाद भी उसने अनुभव किया था कि पूर्णिमा कुछ अन्यमनस्क हो गयी है। तभी जनार्दन और उसके सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट रूप से जानने के लिये वह आतुर हो उठा। उसने पूछा—यह जनार्दन यहाँ क्या करता है?—

पूर्णिमा ने उत्तर दिया—देश का कार्य करते हैं शायद। नगर कांग्रेस कमिटी के मन्त्री भी हैं। कई बार जेल हो आये हैं। अभी तो छूट कर आये ही हैं।

"घर से निश्चिन्त हैं? जीविका के लिये कुछ करने की ज़रूरत नहीं है?"

"ज़रूरत क्यों नहीं है? ज़रूरत तो बहुत है। छोटी बहिन का ब्याह अभी नहीं हुआ है। घर में ज़मींदारी जरूर है; किन्तु उससे इतनी अधिक आमदनी तो है नहीं कि इन्हें किसी काम में लगने की ज़रूरत न हो। मामा जी ने किसी तरह बी० ए० पास करा पाया है। सोचते थे कि लड़का पढ़-लिख कर उन्हें

कुछ अधिक सुख देगा। परन्तु इनके देश के काम में लग जाने से उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया है।"

किन्तु सुनता हूँ कि तुम्हारे मामा के तो कोई औलाद नहीं।'

'पर यह मामी की बड़ी बहिन के पुत्र हैं। तभी इनका अधिक रहना मामा जी के ही यहाँ हुआ है। पढ़ाई में उन्होंने सहायता भी कम नहीं दी है।

व्याह शायद अभी नहीं हुआ है?'

'कहते हैं व्याह करके स्त्री को फाँसी पर चढ़ाना मुझे स्वीकार नहीं। इनके अच्छे-अच्छे व्याह लगे, मामाजी ने भी काफ़ी जोर दिया। पर ये अपनी तबियत और विचार के इतने दृढ़ हैं कि टस-से-मस नहीं होते।'

'तुम क्यों नहीं समझातीं?'

पूर्णिमा जब अपनी प्रकृत अवस्था में रहती है, उसका मुख खिले गुलाब सा दमकता है। नारी की देह पर जब यौवन का प्रथम ज्वार आता है, तब वह सम्हाले नहीं सम्हलता। अंग-अंग जैसे गदराये आम सा सुवासित और स्निग्ध होकर उद्दीप्त हो उठता है। पूर्णिमा भी आज इसी स्थिति में है। इसीलिये विनोद उसकी रूप-माधुरी की ओर निरन्तर एक मोहक दृष्टि से देखा करता है। उसके क्षण-क्षण के भाव-विपर्यय को वह अपलक अपनी चेतना में भर लेना चाहता है और इसीलिये जब उसने उपर्युक्त प्रश्न किया और उसके फलस्वरूप जब पूर्णिमा का मुख गम्भीर हो उठा, तो उसे आश्चर्य हुआ।

पूर्णिमा की स्थिति दूसरी है। जनार्दन उसके साथ खेला है। सखा के साथ जो एक प्रकार का निष्कपट भाव रहता है, प्रारम्भ में बिल्कुल वैसा ही निर्मल भाव वह उसके प्रति रखती थी। किन्तु अन्त में ऐसे दिन भी आये जब दोनों ने अनुभव किया कि वे परस्पर एक ऐसे सम्बन्ध में गुँथे हुए हैं, जो टूट नहीं सकता, मिट नहीं सकता। जो पहले हास-परिहास में अपने मिलन के दिन व्यतीत करते थे, वे दो हृदय अब एक दूसरे से मिलने में भयातुर होने लगे। कोई रोया, किसी ने उपवास किया। अन्त में वे मिले और मिले एकान्त में। उन्होंने खुल कर अपना-अपना प्रश्न रखा। वे झगड़े और रोये भी। एक ने दूसरे को सान्त्वना दी। उन्होंने ठण्डी साँस ले-लेकर क्षणिक भावावेग से दूर जाकर, स्थिर हो-होकर, सोचा और एक प्रशस्त मार्ग निकालने की चेष्टा की। पूर्णिमा बोली थी—अगर अम्मा राज़ी न होंगी, तो मैं उनसे स्पष्ट शब्दों में कह दूँगी कि तब फिर मेरा मरण निश्चित है। और जनार्दन ने प्रतिज्ञा की थी कि तुम अगर अपने व्रत से डिग भी जाओगी तो भी मैं आजन्म अविवाहित रहकर मरण-पर्यन्त तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहूँगा। और इन प्रतिज्ञाओं के बाद हुआ यह कि माँ ने कहा—ऐसा हो नहीं सकता, बेटी। हाथ की ये जो लकीरें हैं, मैं इन्हें मेट नहीं सकती। हमारे घर और वंश की जो मान-मर्यादा है, उसके विरुद्ध ऐसा हो ही कैसे सकता है? जनार्दन कुलीनता में हम से छोटा है। फिर भैया ने उसे पुत्र की भाँति मानकर पढ़ाया-लिखाया है। हमारा सारा समाज उसे तुम्हारे भाई के रूप में देखता है। उस समाज की आँखों में धूल कैसे डाल सकती हूँ। तूने मरण की बात कही है। वह मरण तेरा अकेला न होकर मेरा भी हो सकता है। किन्तु यह समाज किसी एक व्यक्ति के मरण की हानि

को इतना भी तो नहीं गिनता, जितना चींटी के मरण को। व्यक्ति की हानि समाज की हानि नहीं है, बेटी। समाज उस से बहुत ऊपर है। इस के सिवा ऐसा मरण कोई बहुत बड़े महत्व की वस्तु हो, सो बात भी नहीं है। नित्य ही सुनती हूँ, अमुक ने रेल से कटकर जान देदी। अमुक ने अफीम खाली अथवा अमुक फाँसी लगा कर मर गया। पर इस के बाद फिर एक व्यापक शून्य में सब समा जाता है। लोग कहते हैं—'बड़ी नादानी की। कायर निकला। जीवन से लड़ाई लड़ नहीं सका। विषमता की आफ़तों को छाती पर न लेकर रण से भाग खड़ा हुआ।' यही तुम ने सोच रक्खा हो, तो तुम जो चाहो करने में स्वतन्त्र हो। हो सकता है कि मेरी ये बातें तुम्हें विष से बुझे बाणों सी मर्माहत करती हों, किन्तु ये कितनी सत्य के निकट हैं, एक दिन जब तुम अनुभव करोगी, तभी जानोगी कि माँ ने अत्यन्त कड़वी दवा मिलाकर मेरे मानसिक रोग को कैसी साव-धानी के साथ दूर कर दिया था। तब आज की अपनी इस हठ पर तुम्हें हँसी आयेगी। तुम अपनी इस स्थिति पर आप ही लज्जा के भार से अपना यह उन्नत सिर झुका दोगी। अपनी इस समय की नादानी पर तुम पछताओगी और आज की मेरी इस आदेशात्मक कटुता को जीवन का अमर अक्षय वरदान मानकर सुख, सन्तोष और प्रसन्नता से सिहर उठोगी। पूर्णिमा आज वास्तव में माँ के इस कथन को अपने जीवन में अक्षरशः चरितार्थ होती देख रही है। जनार्दन के साथ उस के बाल्य जीवन का ही विशेष सम्बन्ध रहा है। जीवन के अत्यन्त कटु और तिक्त व्यवहारों से भरी इस निर्मम दुनिया में उसने विनोद के द्वारा कहीं भी कोई कष्ट नहीं पाया। एक क्षण को भी उसे यह अनुभव करने का अवसर नहीं मिला कि उसके जीवन में कहीं कोई अभाव भी है। दिनपर दिन उसका यह विश्वास उत्तरो-त्तर दृढ़ ही होता गया है कि अपरिपक्व अवस्था के संकल्पों का

जीवन में कहीं कोई महत्त्व नहीं है। और इसीलिए वह जनार्दन को एक तरह से भूल सी गयी है। इसीलिए उसने अपने आचार-व्यवहार और भावों से यह कभी प्रकट नहीं होने दिया कि जनार्दन भी कोई एक था, जिसे उस ने अपना समझा था, अथवा जो अब भी उसका वैसा ही अपना बना हुआ है।

किन्तु अपरिचित, अप्रत्याशित और अकस्मात आकर उसी जनार्दन ने, कुछ ही क्षणों में, उसके रत्नाकर से भरे पूर्ण जीवन को अपने एक ही स्पर्श से इस तरह जो प्रकम्पित कर डाला है, यह क्या है? पूर्णिमा की विचार दृष्टि एकमात्र इसी प्रश्न के समाधान में लीन है। बार-बार वह सोचती है—मैंने तो केवल कहा ही भर था कि अगर तुम मुझे न मिले तो मेरा मरण निश्चित है। मैं इसे निभा नहीं सकी। विपरीत इसके मैं यही सोचती हूँ कि मेरा उस अवस्था का वह सब सोचना एक भाव-प्रवणता मात्र थी—अपरिपक्व बुद्धि और चेतनाका केवल एक भावात्मक प्रमाद था। सोचती है यही मेरे लिये आज एक महासत्य है। और अट्ठाइस वर्ष के तरुण तपस्वी का यह अविवाहित जीवन, देश-सेवा के युग-युग बन्दनीय महायज्ञ में उसका तिल तिलकर जल जलकर, यह आहुति-दान ही असत्य और मिथ्या है।

उन्होंने कहा था—'तुम चाहे अपने व्रत से विचलित भी हो जाओ, पर मैं तो मरण-पर्यन्त तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा ही। सो मेरा विचलित होना मेरी बहुत बड़ी सफलता है और जनार्दन का यह अविचलित तप-पूर्ण जीवन ही उसकी असफलता। तो वह प्रतिज्ञा जो पूरी नहीं हो सकी, गौरव माने अपनी अपूर्णता पर! और वह संकल्प जिसने अपने को आचार का रूप देकर अग्नि-परीक्षा में स्वर्ण की भाँति जाज्वल्यमान कर दिया हो, मिथ्या, तुच्छ और हेय

मानकर दूध में पड़ी मक्खी की भाँति तिरस्कार का भाजन बने! और जिस समय विचारों के इस संघर्ष में पूर्णिमा स्वयमेव इतनी विकल थी, उसी समय उसके सामने विनोद का यह प्रश्न होता है कि विवाह के लिए तुम जनार्दन को समझाती क्यों नहीं!

यहाँ पूर्णिमा के दाम्पत्य जीवन की भाव-धारा के अबतक के इतिहास को भी भुलाया नहीं जा सकता। अबतक उस ने स्वामी से जनार्दन और अपने सम्बन्ध की जो कभी चर्चा नहीं की, उस का यह कारण नहीं है कि वह अपने इस अतीत को उस से गुप्त रखना चाहती है। कारण अगर कोई हो सकता है, तो वह केवल यह कि अबतक उसे इसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। यह भी हो सकता है कि उसने इसे अवांछनीय समझा हो। व्यर्थ में स्वामी के मन को उद्विग्न करना क्या कोई अच्छी बात है। विशेषकर उस स्वामी को जो अपना सर्वस्व उस पर न्यौछावर करता आ रहा हो! किन्तु अब आज वह क्या करे? क्या आज भी इसी उद्देश्य को कल्याणकारी मानकर वह इस भेद पर परदा डाल दे। यद्यपि चाहे तो डाल सकती है। साफ़ कह सकती है कि तुम्हारे आने से पूर्व यही चर्चा तो मैं उस से कर ही रही थी। किन्तु उस ने सत्य के इस स्थूल रूप के मोह से अपने आप को मुक्त ही रखना अधिक न्यायसङ्गत समझा। परिणाम की बात सोचे विना अपने इस जीवन-साफल्य के समस्त मोह को एक ही दाँव में रख कर उस ने कह दिया — मैं उन्हें कैसे समझाऊँ, जबकि समझाने की स्थिति मेरी है ही नहीं। मैं तो उन्हीं के साथ अपने आपको वरण करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध थी।'

फतेहपुर स्टेशन अभी दूर था और गाड़ी छोटे छोटे स्टेशनों को बराबर पार करती चली जा रही थी। विनोद पूर्णिमा की

बात सुनकर उसी तरह चौंक गया, जैसे आग की साधारण चिनगारी बदन में कहीं छू जाने से हमारी समस्त चेतना को अपने ऊपर केन्द्रित कर लेती है। वह सोचने लगा—तो यह आत्मदान उस नारी का है, जो एक बार अपने आप को अन्य व्यक्ति को समर्पित कर चुकी है! किन्तु तत्काल वह सोचने लगा—लेकिन उसने कभी अपने जीवन पर तो इसकी छाया पड़ने नहीं दी। उसका समर्पण तो कभी अधूरा रहा नहीं। अविश्वास का पात्र तो उसने कभी अपने को बनने नहीं दिया और उसका यह साहस क्या कम प्रशंसनीय है कि बात उठने पर वह मुँह पर ही साफ़ साफ़ कह रही है।

उत्तर पा जाने के बाद थोड़ी देर हो गयी थी और विनोद चुपचाप बैठा सोच रहा था। अब उसका ध्यान पूर्णिमा की ओर आकृष्ट हो उठा और उस की दृष्टि उस पर जा पड़ी। शशि उसकी गोद में ही सो गयी थी और वह स्वयं आलस्य-ग्रस्त जान पड़ती थी।

कल्पना में पूर्णिमा ने उपस्थित विषय को, जितना चिन्ताजनक समझ रखा था, व्यवहार रूप में उसने अनुभव किया. वैसा वह वास्तव में है नहीं; क्योंकि उस समय उसे प्रतीत यही हुआ कि स्वामी पर उसका कोई विशेष प्रभाव पड़ा नहीं है।

थोड़ी देर बाद फतेहपुर में गाड़ी खड़ी हो गयी और विनोद डब्बे से उतर कर पानी लेने चल दिया। वह डब्बे से बाहर हुआ ही था कि देखता क्या है, पानी वाले के पास खड़ा हुआ चुल्लू से जो आदमी पानी पी रहा है, वह जनार्दन है। उस समय वह कुछ बोला नहीं, पर ज्यों ही वह पानी पीकर जाने को हुआ कि विनोद ने उसका हाथ थाम लिया। बोला—जाते कहाँ हैं ? आप

से कुछ काम है। पहले पानी ले लूँ, बाद में इतमीनान से कहूँगा। आप को मेरे पास बैठना होगा।

जनार्दन नहीं जानता था कि वह अकस्मात् इस तरह फँस जायगा। पूर्णिमा से मिलकर वह तो जा ही रहा था। पर मिल गया उसका साथी निर्मलचन्द्र। उसने हाथ पकड़ कर उसे डब्बे के अन्दर कर लिया। इस प्रकार वह विवश होकर इस गाड़ी में चल रहा है। विनोद को देखकर और फिर इस रूप में उसका प्रस्ताव सुनकर वह और भी विस्मित किन्तु विचारग्रस्त हो पड़ा। उसने स्पष्ट रूप से कह दिया कि इस ट्रेन से चलने का उसका कतई इरादा नहीं था। किन्तु अपने मित्र के आग्रह को वह टाल नहीं सका।

जनार्दन उस समय पानी ले रहा था। कैफ़ियत सुनकर उस ने इतना ही कहा लेकिन मैं खुद भी आपको छोड़ नहीं सकता। आप यह सफ़ाई किसको दे रहे हैं।

पूर्णिमा बैठी शशि को थपथपा रही थी। पर उसकी दृष्टि प्लेटफ़ार्म पर थी। थोड़ी देर बाद देखती क्या है कि स्वामी के साथ जो दूसरा व्यक्ति आ रहा है, वह और कोई नहीं, जनार्दन है। गम्भीर और चिन्तित।

विनोद ने अपने फैले होल्ड का आधा भाग जनार्दन के लिये ख़ाली कर दिया। बोला—बैठिये साहब, आप बेकार इधर-उधर भागे फिरते हैं। मैं अगर ऐसा जानता, तो आप को जाने ही न देता।

जनार्दन को पता नहीं है कि पूर्णिमा ने सारी स्थिति स्वामी के समक्ष स्पष्ट रूप से रख दी है। अतएव वह बोला किन्तु जैसा कि मैंने आपको बतलाया नहीं, पिछले डब्बे में निर्मलचन्द्र

बैठा हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा होगा। कम से कम उसको यह तो मालूम होना चाहिये कि मैं...... .. ।

विनोद हँसने लगा। हँसते हँसते पानदान से पान निकाल कर उसे देते हुए वह बोल उठा—प्रतीक्षा करने दीजिये उनको। हानि क्या है? प्रतीक्षा करने वाला भी तो आखिर कोई न कोई, कहीं न कहीं होना चाहिये। यदि कोई मेरी प्रतीक्षा करने वाला हो, तो मैं तो उसे इस सुख से कभी वंचित ही न करूँ। इनसे पूछ देखिये, कभी इन्होंने मेरी प्रतीक्षा की है? फिर स्वयं पान खाते खाते मुस्कराते हुए उसने कहा —पूछिये, मैं कहता हूँ—आप पूछते क्यों नहीं हैं?

तब जनार्दन ने एक बार पूर्णिमा की ओर देखा। देखा, वह प्लेटफ़ार्म की ओर देख रही है और गाड़ी सीटी दे रही है। तब वह बोला—आप कह क्या रहे हैं, किस से कह रहे हैं, मैं कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ।

अब अत्यन्त दृढ़ होकर विनोद बोला—मैं उससे कह रहा हूँ जो शशि का मामा है और जिस ने देश को अपना जीवन सौंप दिया है। वासना को जिसने पीस कर धूल में मिला रखा है। यहाँ तक कि शारीरक धर्म-पालन पर भी जो विश्वास नहीं करता। जिसका जीवन संकटों से घिरा है, किन्तु जिस के मानस-क्षेत्र को उसकी असफलताओं ने इतना विचलित कर डाला है कि वह या तो अपने को धोखा दे रहा है अथवा अनुकूल पथ के अभाव में इधर उधर भटक रहा है।

गाड़ी ज़रा सी पीछे हट रही थी कि उसी क्षण जनार्दन उठकर तपाक से प्लेटफ़ार्म पर आ गया। विनोद चकित-विस्मित उसकी ओर देखता रह गया। हाथ जोड़कर उसने कहा—आप लोग

मुझ को क्षमा करेंगे। गाड़ी और आगे बढ़ने लगी। अब एक ओर निर्मलचन्द्र उसे पुकार रहा था, दूसरी ओर विनोद।

पूर्णिमा कह रही थी—अब जाने कब मिलना हो जनार्दन भैया। कभी कभी पत्र तो डाल दिया करो।

जनार्दन ने इस बार कोई उत्तर नहीं दिया। एक बार उसने पूर्णिमा की ओर देखा। वह मन-ही-मन सोचने लगा—'मैं कभी मिलूँ या न मिलूँ, कभी पत्र भेजकर तुम को याद करूँ या न करूँ किन्तु तुम जन्म-जन्मान्तर अपने इसी आदर्श पर दृढ़ रहना बहन। मैं कभी कोई शिकायत न करूँगा।"

उसने लक्ष्य किया ··विनोद अब भी खिड़की से सिर निकाले हुए उसे देख रहा था। उस बार विदा के क्षण उसका रूमाल दूर से फहरा रहा था किन्तु इस बार वही रूमाल उसकी भीगी पलकों को सुखाने में लीन है।

नगीना

प्रवेश

उसकी आँखों में सदा शरारत भरी रहती। मुसकराते हुए वह उन्हें ऐसे नशीले ढंग से नचा देती कि बस, दिल क़ाबूसे बाहर ही नज़र आता! नगीना की यही विशेषता थी; और, इसीलिये बाबू लालताप्रसाद घर-द्वार छोड़कर उसी के यहाँ पड़े रहते। नगीना के लिये उन्होंने लबे-सड़क एक आलीशान मकान बनवा दिया था। यौवन की मदिरा ठहरी; और. फिर जब वह चढ़ाव पर हो, तो कहना ही क्या! रात को राग-रंग, दिन को सोना और सैर-सपाटा। "घर से अम्मा ने बुलाया है"—संदेश लेकर आदमी आया है; पर नगीना के दरबार से जवाब मिलता है—'जा कह दे, बाबू अभी सोते हैं। जब-कभी जागेंगे. तब उन से कह दिया जायगा।" जब कभी मुख्तार साहब ने बुलाया, तो बाबू साहब अपने सिर के बालों को पीछे की ओर फेंकते हुए बोलेंगे—'लाला जी खुद यहीं क्यों नहीं चले आते?" गरज़ यह कि, लालता बाबू का धीरे-धीरे घर जाना-आना भी बन्द हो गया था।

पहले नगीना जब कभी लालता बाबू को रोकती, तो कहती—"क्या करोगे वहाँ जाकर. चलो आज ज़रा सिनेमा देख आवें।"

लालता बाबू न मानते, तो वह खुद रास्ता रोककर खड़ी हो जाती; कहती—"अच्छा, जाओ, देखें कैसे जाते हो!" और,

साथ-ही साथ नौकर से आने के दरवाज़े का ताला बन्द करवा देती। लालता बाबू विवश हो जाते। कहते—'अच्छा चलो। हटाओ चरखा! कौन जाय!! क्या जाने अम्मा से क्या क्या सुनना पड़े!!!"

पतन

सावन का महीना था। दोनों दीवाने सैर-सपाटे को मोटर पर जा रहे थे। लालता बाबू शहर के निकट ही अपने गाँव में दाख़िल हो गये। यहाँ भी उनका एक मकान था और उसके पास ही एक बगिया। 'नगीना' यहाँ लालता बाबू के साथ झूला झूलने आयी थी। पहुँचते-पहुँचते शाम हो गयी थी; और, जब शाम हो ही गयी थी, तब रात होते देर ही क्या लगती! इधर नगीना, ज़मीन पर परी के रूप में इठला रही थी उधर आसमान में बादल-परियों ने भी उपद्रव मचाने की ठान ली थी। एक-दो बूँदें पड़ने लगी थीं। नगीना बोली—"आह! कितनी अच्छी दुनिया है!"

लालता—"तुम्हारी इनायत से।"

ज़बान कुतरती हुई नगीना बोली—'ऐसा न कहो! यह सब खुदा की कुदरत है।"

लालता—"उसका तो सब है ही; लेकिन (नगीना की बाँह में चुटकी काटते हुए) तुम्हारी इस अदा ने भी मेरी दुनिया को क्या कम सरसब्ज़ बनाया है?"

नगीना का रोम रोम पुलकित हो उठा! वह बोली—' चलो, हटो; हर वक्त की दिल्लगी मुझे पसन्द नहीं।"

लालता—"अच्छा! अब इस तरह रुआब दिखलाओगी?"

नगीना हँसने लगी। फिर बोली—"रुआब नहीं जनाब, उधर

कोई मूँछें खींचेगा। उनकी ये हरकतें आपके दिल को कितनी तसल्ली देंगी!"

ललता बाबू नगीना के इस तरह के उत्तरों से निरुत्तर हो जाते। एक ठंडी साँस खींचते और रह जाते! नीरव हृद्गति प्रकम्पित हो उठती।

ललता के घर में उनके दो लड़के थे; एक छोटी लड़की। बड़ा लड़का सातवें दरजे में पढ़ता था, वह ११—१२ वर्ष का था। दूसरा, जो उससे छोटा था, अभी पाँच वर्ष का था। वह घर पर अपनी अम्मा से अक्षर सीख रहा था। छोटी लड़की अभी दो-ढाई वर्ष की ही थी।

होली का त्योहार था। ललता की गृहणी 'रमा' ने अपने बड़े लड़के 'रामप्यारे' को बुला कर कहा—"भैया, अभी तुझे अपने बाबू के पास जाना होगा।"

"क्या कहूँगा उनसे, अम्मा?"

"कहना 'तुम्हें बड़ी अम्मा ने बुलाया है। बहुत ज़रूरी काम है; बहुत ही ज़रूरी।"

रामप्यारे ने उत्तर में कहा—'अच्छा'—और चल दिया। कहाँ किस मकान में उसके बाबू रहते हैं, यह सब वह जानता था।

थोड़ी देर में रामप्यारे नगीना के सामने था।

नगीना ने उसे दूर से ही देख कर कहा—"आ रे 'प्यारे'। सब लोग अच्छी तरह से तो हैं?"

प्यारे बोला—"हाँ, सब अच्छी तरह हैं। बाबू को बड़ी अम्मा ने बुलाया है। कई दिनों से उन्हें ज्वर आ रहा है।"

"ज्वर आ रहा है !" नगीना ने आश्चर्य के साथ, एकदम गम्भीर होकर, पूछा — "कितने दिनों से आ रहा है ?"

"यही ३—४ दिन हुए।"

"और भी कुछ कहती थीं, बड़ी अम्मा ?"

"और तो कुछ नहीं कहती थीं।"

"अच्छा, आज क्या खाने को बन रहा है घर में ? हाँ, तूने तो अभी कुछ खाया न होगा। सवेरे से ही ?"

"अभी तक तो कुछ नहीं बन रहा है। बाबू चलेंगे, तभी बनेगा।"

"अच्छा ! क्या अम्मा ने ऐसा कहा है ?"

"कहा तो नहीं है; पर मैं कहता हूँ। मैं जब यहाँ चलने लगा था, तब अम्मा की आँखें भरी हुई थीं। ऐसा जान पड़ता था, जैसे वे रोना ही चाहती हैं। मैं अगर कुछ देर और ठहर जाता, तो शायद मेरे सामने ही वे रो पड़तीं।"

नगीना ने उसी समय प्यारे के लिये मिठाई मँगवाने का चुपचाप आदेश देकर कहा—"लेकिन वे तो अब मेरे यहाँ नहीं रहते। करीब-करीब एक महीना हुआ, वे चौक में 'कोकिला' के यहाँ रहने लगे हैं।"

'प्यारे' यह सुनकर एकदम हतप्रभ हो गया ! महीनों से उसने अपने बाबू को नहीं देखा था। आज चिर काल के बाद वह उन्हें देखने को उल्लसित हुआ था। वह उनके मिलने की आशा पर अनेक आह्लादमयी कल्पनाओं के चित्र बना रहा था। एकाएक उसका स्वप्न टूट गया। उसने कहा—'तो अब मैं वहीं जाऊँगा, चाची।"

नगीना ने कहा--"अच्छा, पहले ज़रा मिठाई तो खाये जा। फिर जाना।"

"ना, मिठाई-विठाई इस समय मैं कुछ नहीं खाऊँगा।"—प्यारे ने कहा।

नगीना बोली—"सो न होगा। बिना मिठाई खिलाये मैं तुझे जाने न दूँगी। तू अब बड़ा हो गया है। तुझे क्या पता कि, इन्हीं हाथों से अपनी इसी गोद में मैंने तुझे कितना खिलाया है। कुछ ख्याल है, कब से तू मुझे चाची कहता आ रहा है?"

प्यारे चुप रह गया। इस मामले में वह अब और कुछ बहस नहीं करना चाहता था। तब तक मिठाई भी उसके सामने एक तश्तरी में आ गयी।

किसी तरह मिठाई के तीन-चार टुकड़े मुँह में डालकर उसने पानी पिया, रूमाल जेब से निकाल कर मुँह पोंछा और उठ कर 'अच्छा, अब चलता हूँ' कहकर चल दिया। थोड़ी देर में वह चौक में खड़ा था।

प्यारे का गोरा गोरा खूबसूरत मुखड़ा और टोपी की मर्यादा भंग करते हुए छल्लेदार बाल देखकर सभी उसकी ओर एक बार आकृष्ट हो उठते। लेकिन और किसी के पास न जाकर उसने एक तमोली से पूछा—'यहाँ कहीं कोकिला बाई रहती है?"

तमोली ग्यारह-बारह वर्ष के छोकरे के मुँह से 'कोकिला' का नाम सुनकर सशंक हो उठा। बोला—"क्या करोगे उसका पता पूछकर बाबू?"

प्यारे—"एक काम है।"

तमोली—"भला कुछ सुन भी सकता हूँ?"

प्यारे—"नहीं दादा, वह सब मुझ से कुछ मत पूछो। बस यही बतला दो. उसका घर कौन-सा है?"

तमोली—"बिजली का वह दूसरा खम्भा जो देख पड़ रहा है, उसी के ऊपर रहती है। लेकिन, ज़रा मेरी बात तो सुने जाओ"।

तब तक रामप्यारे आगे बढ़ गया। ठीक उसी मकान के निकट पहुँच कर नीचे के सुनार से उसने फिर पूछा, "इसी में ऊपर 'कोकिला' रहती है न?"

सुनार ने कहा—"हाँ, कल तक तो थी। आज सवेरे ही बनारस चली गयी है।"

प्यारे—"उसके साथ और कौन-कौन गया है?"

सुनार ने कहा—'यह सब मैं क्या जानूँ बाबू. रोज़ ही अनेक आते-जाते रहते हैं। जानते तो हो, वेश्या का घर ठहरा। इतना ही जानता हूँ, आज से यह मकान किराये के लिये खाली है।"

कोकिला

जब तक लालता बाबू इलाहाबाद में थे, उन्हें कभी कभी अपने घर की कुछ खबर भी मिल जाती थी। पर अब बनारस आकर वे उस घर को भी भूल रहे थे, जिसकी बदौलत उनकी जीवन-सरिता प्रवाहित होती थी। इलाहाबाद में उनको कर्ज़ देने वाले बहुतेरे लोग थे, बनारस में कौन बैठा था। वादे-पर-वादे करते—अब घर जाकर ले आता हूँ, अब इन्तज़ाम करना हूँ। एक दिन कोकिला ने कहा—"मुझे आज ही दो सौ रुपये चाहिये।"

ला०—"यहाँ रुपये कहाँ से आये ?"

को०—"मैं यह कुछ नहीं जानती।"

ला०—"अच्छा, मैं इन्तज़ाम करता हूँ; दो एक दिनों में रुपये मिल जायँगे।"

को०—"अब मैं दो-एक दिन भी ठहर नहीं सकती। दो-एक दिन टलते टलते तो आज दो महीने हो रहे हैं। आपने क्या वादा किया था, याद है ?"

ला०—"याद क्यों नहीं है; लेकिन......"

को०—"लेकिन, तो मैं अब सुनना ही नहीं चाहती।"

ला०—"तो आज घर जाऊँगा।"

को०—"कब जाइयेगा ?"

ला०—"शाम को।"

को०—शाम को नहीं, अभी जाइये। अभी गाड़ी मिल भी जायगी।"

नगीना में रूप था, छवि थी और, और भी कुछ था। वह लालता बाबू के साथ हँसती थी. उनकी उदासीनता देखकर खुद भी गम्भीर हो जाती थी।

कोकिला में रूप था, यौवन भी था। लेकिन सबसे अधिक आकर्षण उसकी स्वर-लहरी में था। जब वह गाने बैठती, तब एक बार हृदय में हलचल मचा देती।

लालता बाबू उसके इसी गुण पर रीझे हुए थे। पर उन्होंने उसके दिल को कभी टटोला न था। आज की बातचीत में उन्होंने उसके हृदय का प्रतिबिम्ब देखा। उन्हें 'नगीना' का खयाल आ

गया। जीवन के पिछले तीन-चार वर्षों में कभी कोई भी दिन ऐसा न आया था, जब नगीना ने उनसे रुपये-पैसे के लिये इस तरह की बातचीत की हो।

कोकिला की इस बातचीत में उन्होंने वेश्या के यथार्थ रूप को देखा। चट उठ बैठे। अब वे एक क्षण भी ठहरना नहीं चाहते थे। कपड़े कुछ पहनते और कुछ हाथ में लेते हुए वे उसके मकान से बाहर आ गये।

दिन भर लालता बाबू बनारस में ही रहे।

रात हुई, नौ बजे; वे धीरे-धीरे टहलते-टहलते दालमंडी पहुँचे। कोकिला के मकान के पास एक शरबत वाले की दूकान में बैठ गये। आधा गिलास सोडा लिया, उसी में अपनी जेब से एक शीशी निकाल कर उँडेल ली। धीरे-धीरे उसे पीते जाते थे, साथ ही साथ कोकिला के मकान की ओर भी देखते जाते थे। भरे गिलास को गले के घाट उतार कर वे 'पहले धीरे-धीरे और फिर झपट कर, कोकिला के कोठे के ज़ीने की ओर बढ़ कर, जल्दी से चढ़ने लगे।

अन्तिम सीढ़ी पर अभी वे चढ़ भी न पाये थे कि, नौकरानी ने आकर उन्हें देखा और कहा—"अच्छा, आप हैं!"

लालता बाबू और भी आगे बढ़ गये – और उसी कमरे में दाखिल हो गये जहाँ कोकिला गाना गा रही थी। उन्होंने देखा, और भी दो नवीन श्रोता वहाँ उपस्थित हैं।

लालता बाबू को वे दोनों बड़े गौर से देखने लगे। कोकिला ने गाना बन्द करके एक बार उन्हें देखा और मुस्करा दिया।

लेकिन लालता बाबू ठहरे नहीं; चुपचाप लौटने लगे। अब

कोकिला उठ खड़ी हुई। जब तक वह ज़ीने तक आयी, तब तक लालता बाबू नीचे आ चुके थे। उसने कहा—"क्या बात है, आप ऊपर क्यों नहीं चलते ?"

लालता ने जवाब दिया—"अभी तक इलाहाबाद नहीं गया था, अब जा रहा हूँ।"

कोकिला ने उनकी ओर ग़ौर से देखा, उनकी आँखों से चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं, मुँह लाल हो रहा था। उसने उनका हाथ पकड़ कर कहा—"कल चले जाइयेगा, ऐसी क्या जल्दी है। जान पड़ता है...... अरे सुनिये तो।"

लालता बाबू ने "चल, हरामजादी कुतिया कहीं-की" कह कर एक ऐसा झटका दिया कि, कोकिला फ़र्श पर जा गिरी। नौकरानी, बुढ़िया उस्ताद जी तथा श्रोता गण जब तक नीचे आवें, तब तक वह इक्के पर बैठ चुके थे।

टूटा हृदय

नगीना ने जब सुना कि, लालता बाबू की माँ का देहान्त हो गया, तब वह और भी अधिक उदास और गम्भीर हो गयी। कई बार उसके जी में आया कि वह उनके घर जाकर उन लोगों को देख आये, लेकिन बेचारी पतित नारी वहाँ कैसे जाती यों! जब से लालता बाबू उसके यहाँ से गये, तभी से उसे कुछ अच्छा न लगता था। पर आज तो वह एकदम विकल हो पड़ी! उससे खाना न खाया गया। तिछत्ते पर बैठी हुई वह बड़ी देर तक कुछ सोचती रही। अपने जीवन की र त-वेला में उसने जिन-जिन के साथ रूप-यौवन का सौदा किया था, एकाएक लालता बाबू की प्रेम-ग्रन्थि ने सब के प्रति उसके हृदय में घृणा और पश्चात्ताप

का नरक-कुण्ड भर दिया था। पर आज एक मास से तो वह नितान्त निराश्रित है, उसके भविष्य की सुनहरी कल्पनाएँ धूल में मिली जा रही हैं। वह करे तो क्या करे, और जाय तो कहाँ जाय!

नगीना बैठी हुई ऐसा सोच रही थी कि नीचे से एक आदमी ने आकर कहा—"मालकिन ने आज संध्या के समय आपको बुलाया है।"

नगीना ने उत्तर में कह दिया—"अच्छा मैं शाम को आऊँगी।"

ज्यों-त्यों करके संध्या हुई। नगीना 'रमा' के सामने थी।

बड़ी देर तक किसी के मुँह से कुछ न निकला।

अनन्तर 'रमा' ने आँसू भर कर कहा—"अम्मा तो चल बसीं!"

नगीना—"हाँ, मुझे कल ही मालूम हो गया था।"

रमा—"उनका नाम रटते रटते, उन्हें देखने के लिये ललचते ललचते, उनके प्राण छूटे! अन्त काल तक यही कहती रहीं—"भैया नहीं आये।"

नगीना ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह उत्तर क्या देती! ललना के जीवन को ऐसा बनाया किसने? उसी ने तो! फिर भला वह अपना मुख कैसे खोलती!

रमा बोली—"आपको मैंने जिसलिये तकलीफ़ दी है, वह बात कहना चाहती हूँ; पर कहने की हिम्मत नहीं होती। अगर आप यहाँ न आतीं, तो फिर मुझे ही आपके यहाँ जाना पड़ता।"

नगीना की आँखों में आँसू छलक आये।

रमा ने कहा—"जब से उनका पता नहीं है, तब से आपको भी मैं बिल्कुल बदली हुई पा रही हूँ। आदमी का मुँह देखकर भला यह भी कोई बात है कि, मैं उसके हृदय को पहचान न सकूँ? नहीं तो.........।" नगीना अपना मुँह नीचे की ओर किये हुए टप-टप आँसू गिरा रही थी।

रमा फिर बोली—"भला उनका कहीं पता लगा?"

नगीना ने आँसू पोंछते हुए कहा—"वे काशी चले गये हैं। इधर ८-१० दिन हुए, मेरे यहाँ एक बार आये थे।"

रमा ने पूछा—"किस लिये आये थे?"

नगीना—"कुछ रुपये चाहते थे।"

रमा—"फिर? आपने क्या कहा?"

नगीना—"मैंने उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया।"

रमा—"बड़ा अच्छा किया। अगर पहले से ही यह नीति आपने रखी होती, तो कितना अच्छा होता!"

नगीना—"अभी वे फिर मेरे यहाँ आवेंगे; मुझे पूरा यक़ीन है, ज़रूर आवेंगे।"

रमा—"वे आवें, चाहे न आवें। आ कर भी वे अब क्या लेंगे। इन बच्चों के लिये उन्होंने क्या छोड़ा है? दर-दर भीख माँगना बदा है!"

नगीना एक ठँडी साँस लेकर रह गयी।

रमा—"अम्मा की अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिये कम-से-कम पाँच सौ तो अभी चाहिये। मेरे बदन पर गहनों की जगह यही खाल रह गयी है। सो, अब इसको भी तो कोई नहीं पूछेगा।"

नगीना—"आप इस तरह की बातें न करें।"

रमा—"क्या कुछ झूठ कहती हूँ, बहन ? अब यही होने को है। आपको क्या मालूम कि फ़ीस अदा न हो सकने के कारण रामप्यारे का नाम स्कूल से काट दिया गया !"

रमा के मुँह से 'बहन' सम्बोधन सुनकर नगीना का हृदय पानी हो गया। उसने कहा—"अब और ज्यादा मुझे न सुनावें। मुख्तार साहब को कल मेरे यहाँ भेज दें, ज़रूर। फिर सब ठीक हो जायगा। आप घबरावें नहीं। ये बच्चे अकेले तुम्हारे ही नहीं हैं, मेरे भी तो हैं।"

अगले वर्षों में

चौक का मकान नगीना ने तभी बेच डाला था; और, साथ ही उसने अपने सब गहने भी बेच डाले थे। इस तरह बारह हज़ार रुपये उसने रामप्यारे के नाम बैंक में जमा कर दिये। मुख्तार साहब आकर फिर रियासत की देख-भाल करने लगे।

नगीना, लालता बाबू के मकान के पास, एक छोटे-से मकान में रहने लगी। लालता बाबू के बच्चों की देख-भाल करती, उन्हें खिलाती और उनके साथ खुद भी खेलती। उनकी तोतली बोली, उनका ठुमुक-ठुमुक चलना, उछलना, कूदना और आपस में लड़ना और रोना, उन्हें मिठाई खिला कर मनाना, स्कूल

भेजना, प्यार से उनकी चुम्मी लेना और डाट से उन्हें झिड़कना और उनका सुधार करना—यही सब काम नगीना किया करती।

बच्चे नगीना के सामने जब कभी रमा के पास जाकर उसे 'अम्मा' कहते, तब रमा कहती, "मैं तुम्हारी अम्मा नहीं हूँ, अम्मा तो तुम्हारी वह है, वह !"

बच्चे उछल कर नगीना की गोद में जा गिरते और नगीना पुलकित हो उठती।

कल 'प्यारे' के ब्याह का दिन था। बारात रामप्यारे को ब्याहने गयी हुई थी। रात को घर में नवरौरा हो रहा था। उसी समय एक आदमी ने घर में प्रवेश किया।

नगीना गा रही थी—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।"

एकाएक किसी के खाँसने की आवाज़ हुई। एक स्त्री ने चौंक कर कहा—"यह खाँसा कौन ?"

दूसरी ने विस्मित होकर कहा—"कोई है।"

तीसरी ने उपेक्षा के साथ कहा—"कोई नहीं।"

अब नगीना ने गाया—

"अँसुअन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेलि बोई।"

इसी समय किसी स्त्री ने बिगड़कर कहा—"नगीना बहन क्या कहती हो ! कोई है ज़रूर।"

गाना बन्द हो गया। स्त्रियाँ भयभीत होने लगीं।

नगीना ने पास ही टँगी हुई लालटेन लेकर दरवाज़े की ओर बढ़ते हुए देखा, बरामदे की चारपाई पर लेटा हुआ एक आदमी फिर खाँसा। नगीना समीप पहुँची। उसने लालटेन के प्रकाश में देखा, लालता बाबू अपने हाथ की उँगली को अपने दाँतों के नीचे दबाये हुए एक ओर को देख रहे थे। उनका शरीर सूखा हुआ था, दाढ़ी बढ़ी हुई, कपड़े मैले !

नगीना उनके पास ही बैठ गयी। उसके साथ में आने वाली स्त्रियाँ लौट गयीं।

नगीना ने एक ही बार में सारी बातें पूछने का उपक्रम करते हुए पूछा—"कब आये, कहाँ रहे, यह हालत कैसे हो गयी ?"

लालता बाबू के पास कोई शब्द नहीं थे। आँसुओं की बूँदे उनकी आँखों से निकल निकल कर टप टप गिर रही थीं !

उधर रमा किवाड़ों की अर्ध ओट में खड़ी होकर यह सब देख रही थी।

एक रोदन था, एक कोलाहल—आशा-स्वप्नों का, विरह-मिलन का, अवसाद-आह्लाद का !!!

अशोक का घोड़ा

"सोजा—भैया, सोजा! भैया मेरा राजा बेटा है!"

—"कभी एक राजा भी था अशोक। जब वह भैया की उम्र का था, तो अपने बाबू का कहना तुरन्त मान लेता था। वह घोड़े पर चढ़ता था और जंगल में जाकर शिकार खेलता था।"

अशोक की आँखों पर विस्मय और आह्लाद की छाप है। होंठ उसके खिल रहे हैं; वि हँस रहे हैं। जिज्ञासा उभर-उभर उठती है – 'छिताल ?'

—"हाँ भैया! अशोक राजा ही नहीं, राजाओं का भी राजा था। बहादुरी में अनोखा था वह।"

बालक अशोक पूछना और जानना बहुत कुछ चाहता है। लेकिन पूछता है सारे मर्म को केवल एक शब्द में—'लाजा ?'

—"हाँ, भैया! वह सब को प्यार करता था। लोग आज भी उसकी याद में आँसू गिराते हैं।"

अशोक प्यार जानता है और आँसू। बिना बोले उससे रहा नहीं जाता—'बाबू, प्याल! औल आँछू बाबू!'

—"हाँ भैया!"

—"मेरा अशोक जब बड़ा होगा; तब हम उसे घोड़ा ले आयँगे। वह उस पर चढ़ेगा, उसके पास बन्दूक होगी और वह शिकार खेलने जाया करेगा।"

बालक की महत्वाकांक्षा जाग उठती है—"बाबू, अमें अबी धोला ला दो। अम छिताल थेलें दे।"

—"लेकिन मेरा अशोक तो अभी बबुआ है, खिलौना है।"

"बाबू अमें थिलौना ला दो। अम थेलें दे।"

—"कल ला देंगे खिलौना, अपने राजा बेटा को। अच्छा अब सोजा। तेरी माँ सो गई है, अब तू भी सोजा।"

"और धोला नहीं लाओ दे?"

—"घोड़ा भी ला देंगे भैया के लिए। लेकिन अब सो तो जा।"

"भैया मेरा राजा है"—थप्—थप्—थप्।

अशोक आँखें मींच लेता है। किन्तु क्षण भर बाद फिर एकाएक, जैसे चौंक कर, आँखें खोलकर कह उठता है—"बाबू, धोला ला दो अम तो। अभी ला दो बाबू!"

लेकिन उस समय घोड़ा वहाँ कहाँ रक्खा था! तब उसने बात आगे बढ़ा दी—"बड़े होने पर भैया का ब्याह होगा। उसकी दुलहिन आयगी। राजा बेटा की वह रानी होगी।"

"लानी! लानी कैछी ओती ऐ बाबू?"

राकेश, कहने को तो कह गया; लेकिन अब उसे समझाये कैसे? उसकी अन्तर्दृष्टि पर दो चित्र बन गये—रागिणी + रानी। किन्तु फिर वह एक निःश्वास लेकर रह गया—"क्या रागिणी को वह, पूर्ण रूप से, रानी का रूप दे पाया है?"

वह कोई उत्तर न देकर अशोक को थपथपाता ही रहा।

अब अशोक सोने लगा था।

और राकेश ?

टप ! टप ! टप !

× ×

बालक अशोक की माँ सो रही हो, सो बात नहीं है। एक फटी पुरानी रज़ाई ऊपर डाल कर वह केवल लेट भर रही है। अशोक किसी तरह सो जाय, इसी की प्रतीक्षा में है वह। उसके सो जाने पर वह उठेगी और लाई-चना मिट्टी के बर्तन से निकाल कर स्वामी को दे देगी। कुछ पूछेगी वह उनसे नहीं। रोज़ रोज़ पूछने से लाभ क्या है। अगर कहीं काम मिल गया होता तो आते ही बतला न देते। इतना धैर्य उन में कहाँ है।

लेकिन राकेश नहीं जानता कि सचमुच रागिणी नहीं सोई है। तभी वह आते ही माँ की बग़ल में लेटे लेटे खेलते हुए अशोक को सुलाने की चेष्टा करने लगा था। वह जानता है कि रागिणी आज दिन को भी सो नहीं पाई है। वह यह भी जानता है कि कल रात भर वह सिलाई का काम करती रही है। एक लिहाफ़ उसने सी डाला है। उससे जो पैसे मिले हैं, उनकी सहायता से अशोक के लिए उसने रुईदार आधी बाहों का सलूका बनाया है। इस तरह वह रात-दिन की हारी-थकी है। सबेरे थोड़ी सी खिचड़ी मात्र बनाई थी। इस समय उसका भी कोई प्रबन्ध नहीं हो सका है। खाना पेट भर न मिलने के कारण अशोक को पिलाने योग्य दूध उसके अब निकलता नहीं है। प्रातःकाल दो पैसे का वह दूध उधार ले आया था। वही उसने अशोक को पिला दिया था।

इसी समय राकेश को ख्याल आ गया, जब वह सहदेव हलवाई की दूकान से दूध ले रहा था, किसी ने कार से जाते हुए

उसकी ओर देखा था। उसने उस समय मुझे क्या समझा होगा? पैण्ट में चाय और पान के दाग़ पड़े हैं। मैला वह कितना हो गया है। कोट को उलटवाना चाहता था; लेकिन कैसे उलटवाता! बालों में तेल नहीं पड़ा आज चौथा दिन है। और शेव! उसने सोचा होगा, राकेश की यह रूप-रेखा उचित ही है। वही राकेश जो अभी कल तक विश्व-विद्यालय में रेखा के अनन्य प्रेमी के रूप में बदनाम था।

एक निःश्वास लेकर वह रह गया।

दिन थे, जब रेखा ने पहली भेंट में ही अपनी मुस्कान उसे दी थी।

दिन थे, जब रेखा ने उसकी बग़ल में बैठ कर 'चन्डीदास' फिल्म देखते-देखते धीमे अन्धकार से भरे उस जनाकीर्ण पैलेस में, उसके कान में ऐसा कुछ कह दिया था कि राकेश सिहर उठा था। फिर कुछ दिनों बाद दोनों ने हाथ से हाथ मिला कर एक शपथ ली थी। किन्तु फिर अकस्मात् पिता के तीव्र अनुरोध के कारण वह विवश हो गया और रेखा के स्थान पर रागिणी उसके जीवन में आ गई। रागिणी एक दूर के रिश्ते से आई थी और सुदूर अतीत से वह उसी की थी। उसके साथ बचपन की स्मृतियाँ थीं। विवाह का प्रस्ताव हो जाने के बाद कुछ मत-भेद पड़ गया था और वह सोचने लगा था कि अब वह उसे नहीं मिलेगी। तभी रेखा की ओर उसकी दृष्टि गई थी।

लेकिन राकेश ने जीवन-संघर्ष से कभी हार नहीं मानी है। आज भी वह हार मानने को तैयार नहीं है।—यद्यपि वस्तुस्थिति

यह है कि फ़ीस दाखिल न कर पाने के कारण वह एम० ए० की परीक्षा में बैठ नहीं सका।

× × × ×

रागिणी उठी और उसने लाई और चना, एक तश्तरी में लाकर, राकेश के सामने रख दिया। स्वयं वह फिर रज़ाई से अपने को ढकने जा ही रही थी कि राकेश बोला—"तुम यह कर क्या रही हो रागिणी ?"

"क्यों, तुम को क्या कुछ और चाहिये ? लेकिन गुड़ भी अब नहीं रह गया है। नमक के टुकड़े मैंने रख ही दिये हैं। मिर्चा भी है।"

"लेकिन तुम ?"

"ओह ! मैं अब समझी !"—जैसे जान-बूझ कर मुस्कराती रागिणी कानों के इमीटेशन इयररिंग हिलाती हुई बोली—"लेकिन मैं तो पहले ही चाब चुकी हूँ ! भूख ज़ोर की लगी थी। ढेर-के-ढेर चाब लिये हैं। ऊपर से दो गिलास पानी भी पी लिया है। अब इतनी गुंजाइश नहीं है कि दो दाने भी और ले सकूँ। तुम बहुत भूखे होगे, सबेरे भी तुमने खिचड़ी बहुत थोड़ी खाई थी। अब तुम्हीं चबा लो। हाँ-हाँ सच ! ये लो मेरी बातों पर विश्वास भी नहीं करोगे ?"

राकेश चुपचाप चना और लाई चबाने लगा। उसके जीवन में आज यह पहला दिन ही नहीं है। महीनों से यही क्रम चल रहा है। विश्व-विद्यालय में पढ़ने के साथ-साथ वह 'दैनिक युगान्तर' के सम्पादकीय विभाग में काम कर रहा था। पर युद्ध के

कारण जब कागज़ मिलना दुष्कर हो गया तो पत्र का आकार घटा दिया गया और इस तरह वह बेकार हो गया। शुरू में थोड़ा बहुत अनुवाद का काम उसे मिला था; किन्तु अन्त में वह भी बन्द हो गया। प्रकाशक से जो पारिश्रमिक तय हुआ था, छः मास में भी वह वसूल नहीं हो सका। अब ज़मींदारी की आय से माता-पिता का ही निर्वाह हो पाता है। कभी कुछ मिल भी सकता है; लेकिन राकेश ने अभी जीवन से हार ऐसे नहीं मानी है। क्यों वह वयस्क हो जाने पर उनके आगे हाथ पसारे ?

चार-छः झोंक चने ही अभी वह चबा पाया होगा कि उसका कंठ भर आया ! बोला—'रागिणी तुम सोचती होगी कि मैं एक कायर और निकम्मे पुरुष को ब्याही गई हूँ। अगर तुम ऐसा सोचो तो यह बिल्कुल सच होगा। लेकिन इतना तुम जान लो मेरे रागे कि अगर मैं संसार की आँखों में धूल झोंकने-मात्र की इच्छा कर लूँ, तो अब भी सहस्रों रुपये यहीं बिखर सकते हैं। यहीं ! इसी क्षण' वह अब चुप रह गया। एक निःश्वास भी लिया उसने। फिर बोला—'लेकिन नहीं, मैं ऐसा बन नहीं सकता।'

राकेश इतनी-सी बात कह कर चुप रह गया। पेट भर कर चने चबा कर वह उठा। पानी भी उसने ऊपर से एक गिलास पी लिया। चलते समय बोला—एक काम से जा रहा हूँ। रात को सम्भव है, देर से लौटना हो। मटरू अभी आयगा, थोड़ा-सा दूध लेकर······। उसके आने का ख्याल न रखना।'

× × × ×

रात को नौ बजे होंगे। रेखा के बँगले के बाहर की बत्तियाँ अभी जल रहीं थीं। इधर-उधर देखते हुए राकेश ने उस में प्रवेश

किया। इस समय वह 'क्लीन शेव्ड' था। सिर से लेकर पैर तक वह पश्चिमी वेश-विन्यास से लक़-दक़ था। एक मित्र के यहाँ से वह पोशाक बदल कर गया था; उसी की कार पर बैठ कर। बराण्डे में अभी उसने पैर रक्खा ही था कि रेखा उसे सामने ही देख पड़ी। देखते ही राकेश को पहचान कर उसने हाथ मिलाया। बोली—'हल्लो डियर राकेश।'

वह कुछ और कहना चाहती थी, पर शब्द नहीं फूट रहे थे। वह अपने हृदय को खोल कर दिखलाना चाहती थी, पर इसके लिए उसकी वाणी मूक हो जाती थी। उसके मन आया कि वह कहे—तुम मुझे भूल गये राकेश। मुझे तुम से ऐसी आशा न थी। वर्ष के वर्ष बीत गये और तुम ने आना तो दूर रहा, एक पत्र तक नहीं भेजा! क्या तुम वही सुमधुर राकेश हो? क्या तुम वही मेरे स्वप्न-लोक के आलोकित शरच्चन्द्र हो? मेरा स्वास्थ्य चला गया। मेरी आशाएँ और मेरा सुख सदा के लिए चला गया और अब तुम विदा के समय मेरे पास आये हो! अब मेरे पास और क्या है, सिवा इसके कि मैं एक राख की ढेर हूँ। तुम इसे ले सकते हो। तुम इसे अवश्य ले सकते हो।

किन्तु वह इतना ही कह सकी कि उसकी आँखें भर आयीं।

राकेश जड़ हो गया, पत्थर! वह तो प्रेम पर विश्वास नहीं करता। वह तो उसे एक भावुकता समझता है, प्रकृति की एक कल्पित दुर्बलता।—"तो रेखा क्या है?" "क्या वह भी प्रकृति की एक दुर्बलता है?" "दुर्बल तो है वह।—रात में भी झलकता है कि पीली पड़ गई है। लेकिन मुख की वह मांसल छवि तो ज्यों की त्यों बनी है।—ओह! यह बात है?"

रेखा अपने एकान्त कक्ष में उसे ले आई है। बात वह अपनी कह चुकी है। माँ, पास ही खड़ी-खड़ी समझा रही हैं—'तू ऐसी उत्तेजित हो गई रेखा और राकेश भैया, तुमने सचमुच हमारे साथ छल किया। कितने वर्षों के बाद तुम्हें यहाँ देख रही हूँ; कुछ ठीक है? ऐसा ही करना था, तो तुमने इसको अपना प्यार क्यों दिया था? क्यों इसे तुमने अपना विश्वास अपनी आत्मा का अवलम्ब देने की चेष्टा की थी? रेखा के बाबू इसी सोच में चल बसे। अब इसकी बारी है। लेकिन नहीं, मेरी रेखा, अब तू जिएगी; तुझे जीना है और जीवन का सुख देखना है।'

रेखा की माँ राकेश के सिर पर हाथ फेर रही है। उसकी वाणी काँप रही है, थरथरा रही है। कण्ठ उसका भर आया है। वह भी अब और कुछ कहेगी नहीं।

रात के दस बज गये। राकेश के लिए खाना लाया गया; लेकिन उसने खाया नहीं। कहा—"मैं खाकर आया हूँ।" रेखा की माँ ने बहुत ज़िद की, तो भी नहीं खाया उसने। स्वयं रेखा ने भी अनुरोध किया, तो भी नहीं। जब से आया वह, उसने एक बात तक नहीं की। वह केवल सुनता भर रहा है। हाँ, आँसू ज़रूर उसकी आँखों में आ गये थे।

माँ जाकर अलग लेट रही हैं। राकेश चुपचाप बैठा है। बाहर पवन सी सी कर डोल रहा है। बँगले के पेड़ों की पत्तियाँ मर्मर शब्द कर रही हैं। शोफ़र सो गया है और रेखा चुपचाप लेटी है। कमरे में बिजली की हलकी नीली रोशनी फैली हुई है। राकेश का मन अशोक की ओर लगा है। रागिणी का भी ध्यान उसे साथ ही आ जाता है। कभी-कभी वह सोचता है—अगर वास्तव में वह भूखी ही रह गई हो तो ......।

उसके चले जाने के बाद, थोड़ी ही देर में मटरू आया है। कहा है उसने—"दूध नहीं मिला।" हलवाई कहता है—"जब तक पिछला हिसाब चुकता न हो जायगा, आगे और सौदा न मिलेगा।"

रागिणी ने कानों के रिंग उतार कर दे दिये हैं। कहा है कि जो कुछ मिले ले आना। मटरू ने एक रुपये के वे रिंग बेच कर चार आने पाये हैं। दो पैसे का दूध लाकर शेष साढ़े तीन आने वह रागिणी को दे गया है।

बच्चा सो रहा है। दिन को दूध नहीं मिल सका था। थोड़े से चने ही उसने भी चबा लिये थे। थोड़ी-थोड़ी देर बाद मचल जाता था—"अम्मा दुद्धू!" और अब जो दूध आ भी गया है, तो अशोक सो रहा है। रागिणी सोचती है—क्यों न जगा कर उसे दूध पिला दूँ? किन्तु बच्चे की नींद! हाँ, बच्चे की नींद क्या उसकी क्षुधा-पूर्ति से अधिक प्यारी वस्तु है? दूध पीकर वह और भी मीठी नींद से सो सकेगा।

"अशोक—अशोक!" रागिणी उसे जगाने की चेष्टा करती हुई कह रही है—"बबुआ, अरे ओ बबुआ! बेटा, दूध पी ले। फिर सो जाना।"

"ऊँ-ऊँ ऊँ"

"हाँ, बेटा मेरा राजा है। अशोक सम्राट हुआ था। मेरा अशोक भी सम्राट होगा। पी तो ले दूध।"

"दूध!"—आँखें खोलता हुआ अशोक अत्यधिक प्रसन्न होकर इधर-उधर देख रहा है। फिर एक-दो घूँट पी कर—"छम्लात्। अम्मा, छम्लात् कैछा ओता ऐ?"

"बेटा, सम्राट राजाओं का भी राजा कहलाता है। बड़े-बड़े राजा भी उसको सलाम करते हैं। नौकर-चाकर, महल-ख़ज़ाना, फौज, हाथी-घोड़े, मोटरें, जहाज़ और देश सब कुछ उसके पास होते हैं। उसे किसी चीज़ की कमी नहीं रहती।"

"आती-धोले, बले-बले; इत्ते-बले!" दो घूँट पीकर बतलाते हुए दोनों हाथ फैला रहा है। गुलाबी होठों से दूध के बूँद मोती से टपक रहे हैं। बड़ी-बड़ी आँखें फैलाये वह रागिणी को बतला रहा है।

"झट से दूध पी ले बेटा, फिर सो जा। मेरा राजा दूध पी लेता है।"

"यही चाहिए मुझे, और कुछ नहीं"—रागिणी सोचती है—"मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मेरा अशोक अच्छी तरह रहे, बस। बेकार वे इतना दुःखी होते हैं। नौकरी आज नहीं मिलती न सही। हमारे घर खेत हैं। मैं खेती कराऊँगी। संकट में अपना घर ही सब कुछ है। बेकार वे कुछ और सोचते हैं। मैं कल ही उनसे कहूँगी कि चलो, अब हम देहात में चल कर रहें। लेकिन मेरे पास पहनने को दो-चार गहने और साड़ियाँ.........! गाँव, बस्ती और घर वाले क्या कहेंगे? जाते समय सौ-पचास रुपये तो होते !'

रागिणी रो पड़ी है। सिसकियाँ उभर रहीं हैं और साँस जैसे भीतर समा नहीं रही है।

अशोक अब दूध पी चुका है। रागिणी उसे सुला रही है। लेकिन आँखें उसकी अब भी आँसुओं से तर हैं।

"सोजा बेटा, अब सोजा!"

"बाबू धोला ले आयेन्दे छ्येले, इत्ता बला। उछके बाल ओंदे, और पूँछ ओदी। अम तलेंदे औल छिताल थेलेंदे, बन्दूत छे। बाबू तयते थे।"

अशोक बात करते हुए हाथ फैला देता है, होंठ उसके खिल पड़ते हैं और आँखों में आह्लाद बोल उठता है। सरल और महत्वाकांक्षा से पूर्ण !

राकेश इस सारे दृश्य को जैसे अपने अन्तर्पट पर देख-देख नितान्त अस्तव्यस्त हो उठता है। उधर रागिणी सोचती है कि काश कि वास्तव में वह ऐसी समर्थ होती कि उसके लिए घोड़ा आ सकता।

× × × ×

"अब मैं चलूँगा रेखा।" हाहाकार से खेलते हुए राकेश बोला—"वे लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

राकेश अनायास ही यह बात कह गया है। उसने पहले से कुछ सोचा नहीं था कि क्या उसे कहना है।

रेखा जानती है कि राकेश उसे इस हालत में देख कर वास्तव में दुःखी हुआ है। तभी उसने कुछ कहा नहीं है। लेकिन कहने को उसके पास कुछ होगा नहीं, यह वह नहीं मानती। क्यों उसने भुला दिया उसको ? यह वह सोच सकती है। पुरुष कैसा प्राणी है, इसका अनुभव उसने कर लिया है। किन्तु परिस्थितियाँ मनुष्य से ऊपर हैं, वह जानती है, कभी राकेश ने इस पर विश्वास नहीं किया है। वह तो सदा यही कहता आया है कि परिस्थितियों

के आगे हार मानना भी मनुष्य की कमज़ोरी है। परिस्थितियों का चक्र वह स्वयं निर्माण करता है। उचित और ग्रहणीय दो में से एक क्या है इसका निश्चय करने में जब उससे भूल हो जाती है तभी वह प्रतिकूल परिस्थिति के भँवर में जा पड़ता है।

लेकिन इस समय रेखा खोई-खोई सी बैठी है। वह सोच रही है कि राकेश जो आ नहीं सका है, हाल-चाल भी नहीं दे सका है, उसकी ग्लानि ने उसे इस समय मूक बना डाला है। और यदि उसे वास्तव में अपने किये पर दुःख है, यदि वह सचमुच अणु-अणु को आज लज्जा में स्निग्ध, आलुप्त पा रहा है, तो वह क्षम्य है और हमारा ही है। शरीर उसे चाहिए भी नहीं था। लेकिन क्यों नहीं चाहिए, क्यों नहीं? शरीर से परे आत्मा क्या है? पर वह उसे नहीं चाहिए था, इस समय यह अगर वह मान भी ले, तो क्या वह रेखा को भी नहीं चाहिए था? रेखा को भी?

रेखा के शरीर में अब इतनी शक्ति नहीं रह गई है कि वह चिल्ला सके। क्रन्दन का वह जो एक भीमकाय विस्फूर्जन होता है, शरीर और वाणी के कम्पन और आक्रोश से जो चारों ओर फूट पड़ता है, रेखा अब उसकी सीमा से परे जा पहुँची है। तभी काया के लहू को और मांस को वह फूँक-ताप कर बैठी है। आज वह रेखा है केवल क्षार की। कभी जो जीवन की रेखा थी, आज वह मरण की है। कभी जो तरुण उल्लास की थी, आज वह अवसान की है। उस समय जो नवल और नवागत था, आज ध्वस्त हो होकर विगत बन गया है। आज उस में वेग नहीं है, आँधी नहीं है, लिपट-लिपट जाने वाली वह बिजली नहीं है,

झलक झलक उठने वाली वह ज्योति नहीं है। आज तो वह तलवाहिनी प्रशांत शीतल एक रेखा भर है। पता नहीं किस क्षण निष्पन्न हो जाय।

किन्तु इस राकेश को क्या हो गया है, रेखा सोचती है, घंटों से बैठा है और बोलना जैसे भूल-सा गया है। अगर उसे कुछ कहना नहीं है तो वह आया क्यों है?

रेखा के मन में अभी यह प्रश्न आया ही था कि राकेश ने कह दिया—"अब मैं चलता हूँ रेखा। वे लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे।"

"अच्छा, तो राकेश चला भी जायगा। ठहरेगा नहीं।" सोचती हुई रेखा के मन में आया; लेकिन उसने तो उससे यह भी नहीं पूछा कि आज आ कैसे गये? ठहरे कहाँ हो और कब तक रहोगे? बात यह है कि रेखा ने केवल उसको जाना है, कभी यह तक नहीं पूछा कि तुम्हारा घर कहाँ है? आज भी तो वह नहीं जानती कि उसका राकेश किस स्थिति में है, क्या करता है।

लेकिन उसने तो कहा है—"वे लोग प्रतीक्षा कर रहे होंगे!" यहाँ "वे लोग" कौन हैं उसके? क्या उसकी स्त्री और बच्चे भी हैं? क्या उसने विवाह भी कर लिया है? नहीं तो "वे लोग" कौन हो सकते हैं भला?

किन्तु लो, रेखा ने पूछ ही दिया—"क्या इस बार माँ को भी साथ लाये हो? कहाँ ठहराया है उनको? यहाँ उनको क्यों नहीं ले आये?"

भूकम्प जहाँ कल आने को हो, वहाँ अभी आ जाय, राकेश आज परवा नहीं करेगा, आज संसार में उसके लिए कोई भी ऐसा

नहीं रह गया है, जिससे वह डरे। माना कि रेखा ने उसे चाहा था; लेकिन इस चाहने का अर्थ क्या है? एक दिन उसने जैसे उसे पसन्द कर लिया था, वैसे ही दूसरे को भी पसन्द कर सकती थी। उस दिन राकेश के पास देखने को सब कुछ था, अपने कालेज का, अपने क्लास का वह अग्रणी छात्र था! उसकी वेष-भूषा भी एक रईस की-सी रहती थी। भीतर वह चाहे पोल ही रखता हो; पर देखने में वह किसी अमीरज़ादे से कम नहीं जान पड़ता था। आज भी वह जिस रूप में आया है, वह अतीत के सर्वथा अनुरूप है। किन्तु राकेश आज वास्तव में जिस स्थिति में है, क्या रेखा उससे प्रीति रख सकती थी? माना कि मैं आ नहीं सका हूँ, मिल नहीं सका हूँ, पत्र के नाम पर सचमुच एक चिट तक मैंने नहीं भेजी, उसके पास। इस अर्थ में मैं अपराधी हूँ। किन्तु प्रश्न तो यहाँ यह है कि एक ग़रीब व्यक्ति की एक अमीरज़ादी के साथ दोस्ती कैसी? अच्छा, मान लिया कि दोस्ती सम्भव है, हो ही जाय; लेकिन अनेक असमानताओं से विजड़ित होते हुए इन लोगों में यह प्रेम क्या वस्तु?

राकेश को आज और भी बातें याद आ रहीं हैं। यही वह रेखा की माँ है, जिसने मेरे नौकर से यह जान कर कि बाबू की ज़मीन्दारी तो सिर्फ़ दो आना भर है, अपने गाँव में, मुँह सिकोड़ लिया था और कहा था, "लेकिन तुम्हारे बाबू रहते तो इतने ठाठ से हैं कि मेरी रेखा उन्हें ताल्लुकेदार समझती है।" एक बार स्वयं रेखा ने भी कहा था कि फ़ादर से अगर कहूँगी कि दस हज़ार रुपये दे दीजिए, उससे हिन्दी-लेखकों की सुविधाओं का ध्यान रखने वाली एक पब्लिशिंग कम्पनी चलाई जायगी, तो वे कभी इन्कार न करेंगे। लेकिन मेरी इच्छा का ज्ञान रखते हुए भी उसने

कभी अपने इस वचन को चरितार्थ करने की चेष्टा नहीं की ! मैंने अगर कभी भावुकता में बह कर, प्रमाद या भ्रमवश सदा उस पर जीवन उत्सर्ग करते रहने का उत्साह प्रकट कर दिया, तो वह वचन और व्रत हो गया। उसे समझ लिया गया कि वह प्रेम की प्रतिज्ञा थी और विवाह जो मैंने कर लिया, एक निर्धन गृहस्थ की युवती कन्या के साथ और अपना एक संसार बसाने की चेष्टा की, यही एक बहुत बड़ा अनर्थ हो गया ! तो हम ग़रीब लोग नैतिक दृष्टि से पतित हो गये और इन अमीर लोगों की नाक तो नैतिक दृष्टि से सदा ऊँची ही रहती है।

—'कुछ नहीं है यह सब ! राकेश इस ढोंग को नहीं मानता। जब तक कोई व्यक्ति समाज में अपना वास्तविक अधिकार नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक उस पर कोई भी नैतिक प्रतिबन्ध नहीं है। नैतिकता का अनुशासन केवल ग़रीबों से अपना स्वार्थ साधने भर के लिए है। जो ग़रीब और गुलाम होता है, उसका अहंकार मर जाता है, उसके हाथ-पैर शृङ्खलाओं से जकड़े रहते हैं, वह खुल कर चल-फिर नहीं सकते, हँस-रो नहीं सकते। प्यार करना वह क्या जाने ! सम्पन्नता और स्वतंत्रता के बिना वह पँगु हैं, मुर्दा हैं। जिसके पास खाने को रोटी नहीं है, जिसके शरीर में स्फूर्ति और मन में उल्लास नहीं है, उसके पास हृदय भी नहीं है। कैसा प्यार उसके लिए ? मैं पहले रोटी चाहता हूँ, प्रेम नहीं। प्रेम तो तुम लोगों का ढकोसला और तमाशा है, जिनके कुत्ते मक्खन चुपड़ा टोस्ट चाभते हैं ! रेखा मर रही है, मर जाय; कोई ग़रीब डोम उसकी लाश पर से दुशाला पा जायगा तो उससे उसकी बीबी-बच्चों का तन तो कुछ ढक जायगा। दुनियाँ में सहस्रों आदमी रोज़ मरते हैं। रेखा के मरने से उस संख्या में कोई पार-

वर्तन नहीं हो सकता ! जीवन को समझने में अगर किसी ने कोई गलती की है तो उसका दुष्परिणाम वह खुद भोगे। किसी दूसरे व्यक्ति पर उसकी कोई ज़िम्मेदारी नहीं है ! रागिणी के पास कुछ नहीं था, उससे हमको अशोक मिला है और मैं अपने में खुश हूँ, पूर्ण हूँ। रेखा के पास सब कुछ था; लेकिन उसने कुछ न देकर केवल एक विकार दिया है, एक भ्रम। राकेश को वह न चाहिए। वह उससे कुछ नहीं चाहता !

आज राकेश की आँखों में करुणा नहीं है, दया नहीं है। ये चीज़ें तो मनुष्य में तभी तक रहती है जब तक वह अपने जीवन में एक प्रकार का सुख, संतोष देखता है। राकेश अपने को उस स्थिति से परे देख रहा है। आज न्याय के नाम पर उसकी मानवता पिशाच हो जाना चाहती है। नहीं तो मरण के घाट पर पहुँचती हुई नारी के समक्ष उसका सारा विद्रोह शान्त हो जाता।

अब भी राकेश की आँखें तनी हुई हैं। अब भी वह हाहा-कार की लपटों से खेल रहा है। चेस्टर की जेबों में हाथ डालकर वह खड़ा हो गया और बोला—"मैंने विवाह कर लिया है रेखा ! मेरे एक बच्चा भी है।"

"सचमुच ? अरे वाह !" विस्मय और वेदना, आनन्द और वात्सल्य में डूबी रेखा बोली—"तुम कहते क्या हो, डियर ?"

"अब मैं तुम्हें जाने न दूँगी। कल सवेरे मैं स्वयं तुम्हारे घर चलूँगी और दीदी को देखूँगी। मैं बेबी (बच्चे) को खिला-ऊँगी। अब आज की रात यहीं रह जाओ। चाहो तो सूचित कर दो आदमी भेजकर। ठीक तो है, शोफ़र से कह दो, वह लौट जाय।

राकेश बैठ तो गया फिर कुर्सी पर; परन्तु उसकी आँखें अब की बार नीची हो गईं। उसके विवर्ण हो रहे मुख पर अब एक पराजय की छाया खेलने लगी। वह सोच रहा था—"इस बात को सुन कर रेखा मूर्छित हो जायगी। सम्भव है, समाप्त ही हो जाय। लेकिन उसका मुख इस समय कितना उज्वल है! आनन्द से जैसे पागल हो गई हो!—तो ईर्षा और द्वेष, स्पर्धा और विद्रोह से परे हो कर यह रेखा कुछ और है क्या?

राकेश के मन में अभी यह मन्थन चल ही रहा था कि रेखा बोली—'मौन क्यों हो रहे? उठो और शोफ़र से कह दो। वह अब जाय। हम लोग कल सवेरे आयँगे। बड़ी दूर भी तो है शहर यहाँ से? रात अधिक हो गई और जाड़ा कितना है? जाओ, उठो। अच्छा, बैठे रहो। मैं नौकर बुलाती हूँ।" उसने पुकार की घंटी का इलैक्ट्रिक स्विच दबा दिया।

× × × ×

अशोक सो रहा है लेकिन उसके होंठ काँप रहे हैं; कण्ठ से शब्द फूट रहे हैं और मुख पर आनन्द की रेखाएँ उभर रही हैं।

'अम् धोले पर तलंदे छितल थेलेंदे, अम् बन्दूत तलाएँ दे ....छम्लात् वनें दे।'

रागिणी के आँखों के आँसू उसके गुलाबी कपोलों पर आ-आकर सूख गये हैं। शरीर उसका ऐंठ-ऐंठ उठता है, रोम रोम काँप रहा है, मस्तक जल रहा है और हाथ-पैर शिथिल-से होते जान पड़ते हैं। तो भी वह सोते हुए अशोक का मुख चूम-चूम लेती है। वह उठती है, और द्वार पर खड़ी हो कर देखती है और गिर पड़ती है; फिर काँपती हुई उठती है, और किसी को कल्पना में देख-देख कर गिर-गिर पड़ती है।

अशोक सो रहा है; लेकिन आनन्द से उछल-उछल पड़ता है। धुँधली रोशनी में रागिणी उसकी ओर ताकती और एकटक देखती रह जाती है।

'धोला लेंद ! बन्दूत छम्लात ! धोला ! ···धोला ! बन्दूत ! छम्लात !'

रागिणी पास ही पड़ी सिसकियाँ भर रही और तड़प रही है।

रागिणी उठ बैठी है और अशोक के सिर पर हाथ फेर रही है। आँसू टप-टप गिर रहे हैं।

रागिणी की आँखों के पलक मुँदे हुए हैं। उसे नींद आ रही है।

—जिसे सब कुछ कहना चाहिए था, वह अब भी चुप ही है। क्यों ?—रेखा यह जानती है। अग्नि जो उसके हृदय में धधक रही है, लपटें न उठाकर वह सुमन बिखेरती है।

—"तुमने सोचा होगा, राकेश ! रेखा को तुमसे शिकायत होगी; लेकिन तुमने यह नहीं सोचा कि वह तुम्हें कितना जानती है। वैभव और सौन्दर्य के दम्भ के आगे राकेश ने कभी हार नहीं मानी, क्या मुझे यह जानना बाकी रह गया था ? क्या मैं इतना भी नहीं जान पाई थी कि तुम मुझ से कभी विवाह नहीं करोगे ? ऐश्वर्य और विलास के संस्कारों में पली नारी से विवाह करना कभी तुम्हारे लिए सम्भव नहीं हो सकता। यहाँ तक तो बिल्कुल ठीक रहा; किन्तु मैं यह नहीं जान सकी थी कि तुम मुझे भूल ही जाओगे। कभी मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि प्रेम के राज्य में ग़रीब और अमीर का भेद तुम्हें मुझ से इतनी दूर ले जाकर खड़ा कर देगा कि मैं तुम्हें देख भी न पाऊँगी।"

रेखा धीरे धीरे ठहर-ठहर कर कह रही थी। वाक्यों के टुकड़े बनते थे और शब्द केवल कण्ठ, तालू और होठों से न फूट कर आँखों की पुतलियों, पलकों और मुख की रेखाओं से भी अपना आवेग और आलोक बिखेर देते थे। कभी जो कसर रह जाती, तो पूर्ति के लिए थोड़े से आँसू भी रेखा के पास बच रहे थे।

राकेश अब रेखा की इस बात को सुनकर चुप नहीं रह सका। पूर्ववत् दृढ़ रह कर, स्थिर भङ्गिमा से वह बोला—'तुम्हारा ख्याल ग़लत है रेखा! संसार को तुम प्रेम का राज्य कहती हो! लेकिन कहाँ है प्रेम? जिनके पास तन ढकने को कपड़ा और पेट भरने को रोटी का टुकड़ा नहीं है, किसने दिया है उनको प्रेम? मुझे तो कहीं भी देख नहीं पड़ता। गुलाम और मरभुखी ज़िन्दा लाशों में प्रेम देखने की यह चेष्टा कोरा प्रमाद है रेखा!''

कुछ क्षण के लिए रेखा चुप रह गई। उत्तर वह खोजना चाहती थी; किन्तु उसे मिलता नहीं था। राकेश तब स्वयं ही बोल उठा। लेकिन अब की बार वह उठ कर खड़ा हो गया, कुर्सी के पीछे हाथ टेक कर।

—''कहना चाहो तो कह डालो रेखा, कि जो ग़रीब है और सच्चा है, परम पिता का प्रेम उसे प्राप्त है। लेकिन है यह एक अन्ध-विश्वास।' बात कह कर राकेश एकाएक चुप हो गया। चुप तो हो गया; लेकिन भीतर ही भीतर उसके आगे भी कहता गया—प्रमाद और मानसिक दासत्व की शृंखला में विजड़ित। इसमें कहीं गति नहीं है, जीवन नहीं है। महानाश की सृष्टि की है इसने। मानव को सदा परमुखापेक्षी और पंगु ही देखा और समझा है इस दृष्टि ने। जीवन में सुकुमार वृत्तियों का विषाद और रुदन ही इसने फैलाया है। जब कि मनुष्य में विद्रोह भी कुछ है,

विषधर का सा फूत्कार भी वह करता है, दानव बन कर वह परिस्थितियों से ऊपर भी अपने को देखना चाहता है, जीवन ही ने उसका निर्माण नहीं किया, वह स्वयं भी जीवन का निर्माता है।'

"तो मैं ही कब कहती हूँ। खैर, जाने दो"—रेखा बोली—'तुमने बहुत अच्छा किया। लो, अब तो खुश हो! बुरा अगर कुछ किया, तो इतना कि आज भूल पड़े! क्यों?'

"सचमुच, मैं अपने को भुलाने आया हूँ, रेखा।"—राकेश कहते-कहते आप ही द्रवित हो उठा—"लेकिन देखता हूँ भूल नहीं सकता।"

× × × ×

यह प्रभात है। होली का प्रभात।

रेखा पालकी गाड़ी पर बैठी राकेश के साथ जा रही है। साथ में उसकी माँ भी है।

सड़क पर गाड़ी खड़ी कर दी गई है। एक सँकरी और गन्दी गली के भीतर आगे-आगे राकेश जा रहा है और पीछे-पीछे उसके कन्धे पर हाथ रक्खे—धीरे-धीरे—रेखा। उसकी माँ ने नाक में रूमाल लगा लिया है। वह कहती जाती है—"यहाँ कहाँ तुम रहे आकर! भला तुमको यहाँ रहना चाहिये था!"

किसी तरह सब लोग घर के अन्दर पहुँचते हैं।

किवाड़ खुले पड़े हैं। लालटेन अब भी जल रही है; यद्यपि धुएँ से काली पड़ गयी है। कोठरी के फ़र्श में पुआल बिछा है और रागिणी लेटी हुई है। उसकी साड़ी फटी हुई है और मैली इतनी है कि कीचड़ के वर्ण की हो रही है। रज़ाई और बिछावन की भी यही गति है।

पिता को देखकर अशोक उसकी टाँगों में लिपट जाता है और ऊपर उसके मुख की ओर देख कर कहता है—'बाबू, तुम चुप त्यों ओ ?—बोलते त्यों नईं ?'

' ... ...'

"बाबू, अम्मा छोती `। उथाओ उन्तो। उथाओ बाबू !"

" .... "

"बाबू, तुम अमें घोला नई लाये ! बोलो बाबू !"

लेकिन राकेश चुपचाप खड़ा आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देख रहा है।

रेखा ने अशोक को गोद में लेने की चेष्टा करते हुए कहा—"आ जा मेरे राजा बेटा ! मैं तेरे लिए घोड़ा लाई हूँ। खूब बड़ा-सा घोड़ा। और यह एक (दस हज़ार रुपये का) चेक है।—यह रहा लिफ़ाफ़े में !"

"लेकिन यह बात क्या है ? रागिणी के बदन पर रज़ाई नहीं है !"—सभी लोग क्रम-क्रम से एक ओर देखते हुए जैसे अपने आप से पूछ उठते हैं—"मुख उसका तकिये पर खुला हुआ रक्खा है ! वह एक ओर थोड़ा लटक भी गया है ! उस पर मक्खियाँ भिनक रहीं हैं। पास ही ढेर-की-ढेर फेनिल राल पड़ी हुई है !"

दूसरे दिन वहाँ छपे हुए रंगीन कागज़ के कुछ टुकड़े मात्र रह जाते हैं। और राकेश, अशोक को कभी छाती से दबाये और कभी कन्धे पर बिठाये; सरपट चाल से एक ओर चला जा रहा है—चला जा रहा है। कौन जाने किधर !

उसका हृदय

दो मित्र आपस में वार्तालाप करते हुए सड़क पर जा रहे थे। एक का नाम था त्रिलोचन। वर्ण श्याम, दुर्बल शरीर, मुख पर दस-पाँच शीतला के चिह्न। कमीज़ के कालर खूब टाइट और ढीला सफ़ेद पायजामा। बायें हाथ में घड़ी, जेब में दो फाउन्टेन-पेन। बात-चीत में अधिक भाग उसी का देख पड़ता था।

दूसरे का नाम था गणेश। त्रिलोचन की अपेक्षा कुछ उजला वर्ण, शरीर से भी अधिक समर्थ। गाढ़े का पायजामा, कुरता और उसके ऊपर रेशमी जवाहर जाकेट। धूप तेज़ नहीं थी, तो भी धूप का चश्मा अपनी आँखों पर चढ़ाये था। उसकी रिस्टवाच बहुत छोटी, सुनहली और कीमती थी। बातचीत के बीच में वह जब कभी बोलता तो इतना खुल जाता और इतने अशिष्ट शब्दों का प्रयोग करता कि उसके साथी त्रिलोचन को कभी-कभी अपने इधर उधर देखना पड़ता—इस विचार से कि कहीं किसी रास्ता चलते सम्भ्रान्त व्यक्ति ने सुन तो नहीं लिया!

त्रिलोचन कह रहा था—"भई, मैं तो सीधी बात जानता हूँ। कोई भी व्यक्ति जो कर्ज़ देता है, चाहे वह महाजन हो अथवा एक सभ्य नागरिक मित्र, यह सोचकर देता है कि अगर यह रुपया वापस नहीं भी मिलेगा, तो मेरा काम नहीं रुकेगा। अर्थात् अंतिम स्थिति में वह छोड़ा भी जा सकता है। यह मानी हुई बात है कि

कर्ज़ देने वाला व्यक्ति सदा उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सम्पन्न होता है, जो कर्ज़ लेता है इसीलिए कर्ज़ लेने वाला व्यक्ति अधिकारी है कि यदि उसकी परिस्थिति कर्ज़ अदा करने की नहीं है, तो वह चाहे तो उसे न भी अदा करे। तुम्हारी आय मेरी अपेक्षा अधिक है। खर्च करने के लिए तुमको रुपये की कमी नहीं रहती। ऐसी दशा में यदि मैं तुमको रुपये वापस न करूँ, तो तुम्हें इसके लिए मुझे क्षमा कर देना चाहिये।"

गणेश को क्रोध आ गया। वह कहने लगा—"यह तुम्हारी हरामखोरी है समझे! तुम जैसे बदमाशों को तो कुत्तों...।"

बात काटते हुए त्रिलोचन बोल उठा—"बको मत, बको मत, लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे!"

इतने में तमोली की दूकान आ गई। त्रिलोचन ने आगे बढ़कर कहा—'बाबू साहब को केले का शरबत पिलाओ और पान खिलाओ। और सुनो—'गोल्ड-फ्लेक' सिगरेट हैं तुम्हारे पास?"

उसने कहा—'कहाँ बाबू, आजकल तो लड़ाई के मारे..."

"विल्स . ?"

"हाँ, विल्स तो होगा।"

"एक पैकेट देना।"

वह जेब से पर्स निकाल कर उसे खोलने लगा और बोला—"अच्छा, दो ही दे दो।"

गणेश ने देख लिया कि पर्स में कई नोट हैं। बोल उठा—"इतने रुपये रखते हुए भी यह नहीं होता कि पाँच ही दे दें। अगर

चाहो तो इसी तरह धीरे-धीरे पूरा रुपया अदा होते कितने दिन लगें ?"

तमोली शरबत बना रहा था। त्रिलोचन सिगरेट पीकर धुआँ उड़ाता हुआ हँस रहा था और गणेश बराबर बड़बड़ा रहा था। कुछ सोच कर त्रिलोचन बोल उठा—"बड़बड़ाना बेकार है। एक तो मैं कभी ऐसे आदमी से रुपया नहीं लेता जिसको वापस किये बिना बराबर बेचैनी का अनुभव होता रहे। दूसरे अगर मैं यह देखूँ कि उसको वास्तव में रुपये की ज़रूरत है—तो मैं अपने कपड़े बेचकर भी उसकी ज़रूरत पूरी कर सकता हूँ।" उसके स्वर में गम्भीरता आ गई थी।

"तुम बकते हो, त्रिलोचन! शब्द तुम्हारे लिए मशीनों के आपस में रगड़ने की सूचना मात्र हैं, उनका कोई अर्थ नहीं। अपने शब्दों का ज़रा भी मूल्य तुमने आँका होता तो आज के दिन तुम कुछ और होते। तुम्हारी ऐसी शोचनीय स्थिति न होती। तुम्हारी वाणी में बल होता और तब रुपया क्या चीज़ है, संसार का सारा वैभव तुम्हारे संकेतों की प्रतीक्षा करता।"

गणेश भी अपनी बात कहते-कहते कुछ गम्भीर हो गया था। इसी समय शरबत का गिलास उसके सामने आ गया।

"शब्दों का मूल्य!" कहते हुए त्रिलोचन उपहास की हँसी से किंचित प्रतिरूप हो पड़ा। परन्तु क्षण भर रुक कर फिर कहने लगा—"शब्दों का मूल्य अब मुझे तुम से सीखना पड़ेगा। मुझे पता है कि तुम अपने चचा जान के साथ, सराफ़ की दुकान पर बैठ कर, कितना सच बोलते हो ?"

शरबत पीकर, पान मुँह में दबाए, गणेश बोला—"मैं

तुम्हारे भले के लिए कह रहा था। मेरा मतलब तुमको किसी प्रकार की चोट पहुँचाना तो हो नहीं सकता। रुपये वास्तव में मैंने यह सोचकर दिये भी नहीं थे कि तुमसे वापस मिलेंगे ही। यह तो मैं पहले ही जानता था। खैर, मारो गोली इस मनहूस विषय को। अब यह बतलाओ कि दुर्गा का क्या हुआ ?"

दुर्गा एक नवयुवती है और गणेश के इस प्रश्न के पीछे उसका एक इतिहास छिपा हुआ है। त्रिलोचन आज कल घर में अकेला पड़ गया है। उसके परिवार में उसकी पत्नी दमयन्ती और माँ है। वे गाँव में हैं। अकेले रहकर खाना पकाने में जब उसे अधिक कष्ट होने लगा और उसके दैनिक कार्य-क्रम में व्याघात उपस्थित होता जान पड़ा, तो एक दिन उसके मन में आया, क्यों न एक महाराज रख लिया जाय। अपने मित्रों में उसने इसकी चर्चा की। अन्त में महाराज तो उसे नहीं मिला, मिल गई एक बुढ़िया महाराजिन। त्रिलोचन का काम चलने लगा।

एक दिन बुढ़िया अपने साथ एक लड़की को भी ले आई। वह देखने में सुन्दर, वय में गदराये आम्र-सी और वेश-भूषा में अपेक्षाकृत कुछ पढ़ी-लिखी और सभ्य प्रतीत होती थी। देखते ही त्रिलोचन ने पूछा—"यह कौन है तेरे साथ ?"

महाराजिन बोली—"यह मेरी नतिनी है। घर दिखला दिया और आपसे भेंट करा दी। अगर कभी ज़रूरत पड़ी तो आपका काम तो न रुकेगा—दुर्गा नाम है इसका।"

सुनकर त्रिलोचन मौन रह गया और फिर 'हाँ-न' उसने कुछ नहीं कहा।

दोनों बातचीत करते हुए आगे बढ़ रहे थे। गणेश ने ज्यों

ही दुर्गा के सम्बन्ध में प्रश्न किया, त्यों ही त्रिलोचन कुछ अस्त-व्यस्त हो उठा। फिर उसके मुँह से एकाएक निकला—"वह काम छोड़कर चली गई।"

गणेश ने लक्ष्य किया, त्रिलोचन के स्वर में यद्यपि जड़ता है, किन्तु उसे जान पड़ा जैसे उसमें दर्द भरा हुआ है और उसकी वाणी में नयन और कण्ठ मिलकर उतर रहे हैं। उसने पूछा—"आखिर क्यों ?"

"कुछ नहीं, कोई खास कारण नहीं। एक दिन जैसे वह आ गई थी, वैसे ही एक दिन चली भी गई। पहली बार जैसे बिना बुलाये संयोग से आ गई थी, अन्त में वैसे ही जाती हुई एक संयोग का निर्माण भी कर गई।"

गणेश की उत्सुकता और बढ़ गई। कुछ क्षण दोनों चुपचाप चलते रहे। सड़क पर सैनिकों से भरी लारियाँ जा रही थीं। दाईं ओर धूल के बवण्डर उठ रहे थे। बाईं ओर एक पुलिया पड़ती थी। उसकी ओर लक्ष्य कर त्रिलोचन बोला—"दो मिनट यहाँ ठहर जाओ इन लारियों को निकल जाने दो।"

दोनों उस पुलिया पर बैठ गये। त्रिलोचन बोला—"बुढ़िया के मर जाने के बाद वह नित्य प्रति आने लगी थी। मैं उससे कभी बोलता नहीं था। उसके मुख की ओर देखने की चेष्टा भी प्रायः कम ही करता था। अगर कभी उसने कोई प्रश्न कर दिया, तो भले ही उत्तर दे दिया। लेकिन यह दशा भला कब तक रह सकती थी ? तुम्हें पता होगा, आज कल मैं पान नहीं खाता हूँ। अगर किसी ने दे दिया, तो सम्भव है, मैं खा भी लूँ, पर इच्छापूर्वक मैं कभी पान नहीं खाता। पर खाना खाने के बाद वह विधिवत् तश्तरी

में पान दे जाया करती थी। एक दिन पान देकर जब वह जाने लगी, तो चलते समय उसने कहा—'आप मुझसे नाराज़ रहते हैं।'

आरोप के साथ ही मैं ने उसकी ओर देखा, तो उसकी दृष्टि स्थिर न रह सकी। वह नतमुखी हो गई। तब मैंने पूछा—'मैं तुम्हारा मतलब नहीं समझा।' वह बोली—'आप क्या नहीं समझते, यह मैं नहीं जानती।' बस, इतना कहकर वह जाने लगी। मैंने टोकते हुए कहा—'सुनो दुर्गा, एक बात सुने जाओ।' वह बिना मुस्कराये बोल उठी—'मुझे देर हो रही है। जल्दी कहिये।' मैंने कहा—'तुमने कैसे समझा, मैं तुमसे नाराज़ रहता हूँ?' मेरे प्रश्न पर वह चुप रह गई। अन्त में बड़े अनुरोध, के अनन्तर उसने बतलाया—"आप अकसर बहू जी को ले आने की बात कहा करते हैं। क्या मेरा बनाया खाना आपको अच्छा नहीं लगता?" यह सुनकर मेरा हृदय मचल ज़रूर उठा था, लेकिन मेरे विवेक का पंजा उसके निकट जा पहुँचा। मैंने कहा—'तो तुम सोचती हो दुर्गा कि स्त्री केवल खाना पकाकर खिलाने वाली एक मशीन मात्र है?'

दुर्गा की आँखें भर आईं। वह बोली—"कैसे कहूँ कि आपने मुझे समझने में गलती की, बाबू! मेरा मतलब यह है कि जब बहू जी आ जायँगी तब तो आप मुझे इस नौकरी पर रखेंगे नहीं। तब मेरी गुज़र कैसे होगी? दादी आपसे पहचान करा गई थीं, इसी लिए मैं आपकी सेवा करने आ गई थी। किसी दूसरे बाबू के यहाँ तो मैं जा नहीं सकती।"

मैंने पूछा—"क्यों, किसी दूसरे बाबू के यहाँ खाना पकाने के लिए जाने में तुमको आपत्ति क्या हो सकती है?"

उसने कहा—"मैं आपसे बहस तो कर नहीं सकती। इतना जानती हूँ कि सब आदमी एक से नहीं होते।"

मैं चुप रह गया। वह आँसू पोछती हुई जाने लगी। तब मैंने भी कह दिया—'तुम चिन्ता न करो दुर्गा, वहू जी के आ जाने पर भी मैं तुमको जवाब नहीं दूँगा।'

कुछ दिन इसी तरह चले। मैं अब दो एक बातें उससे करने लगा। कभी उसके बनाए साग की प्रशंसा भी कर देता। कभी कहता—'तुम्हारी स्वच्छता पर मैं बहुत संतुष्ट हूँ।' वह उत्तर में कुछ न कह कर मुस्करा देती।

एक दिन की बात है। उस दिन पानी बरस रहा था और भूमि की गर्मी जैसे पहली बार शान्त हो रही थी। वायु में मिट्टी का सोंधापन मिश्रित होकर अभिनव कल्पनाओं की सृष्टि करने लगता था। सिनेमा देखकर मैं ज्यों ही घर लौटा, देखता क्या हूँ कि दुर्गा मेरे दरवाज़े पर बैठी है। मैंने पूछा—'इस समय कैसे आई, दुर्गा?'

वह बोली—"मकान-मालिक ने सामान बाहर फेंक दिया। कई महीने का किराया चढ़ गया था। आजकल महँगाई के कारण खाना तक तो चलता नहीं, ऊपरी खर्चे कैसे चलें। तिस पर मैं एक स्कूल में पढ़ने भी जाती हूँ।" वह फफक-फफक कर रो पड़ी। फिर बोली—"इतनी रात को अब मैं कहाँ जाऊँ!"

मुझे ऐसी दशा में कहना ही पड़ा—"खैर, कोई बात नहीं। एक-आध दिन में कुछ न कुछ प्रवन्ध हो ही जायगा।"

इस प्रकार उस रात को वह मेरे ही घर पर रह गई।

गणेश से रहा नहीं गया। वह पूछ ही बैठा—"लेकिन वह रात तुमने बिताई कैसे? क्या तुमको नींद आई थी?"

त्रिलोचन ने बतलाया—"बारह बजे तक तो मैं ग्रामोफोन बजाता रहा। दुर्गा फर्श पर चुपचाप बैठी सुनती रही। साढ़े ग्यारह बजे जब एक बार उसने कहा—'अब सो जाइये। नहीं तो सबेरे आँखें कड़ुवायँगी।' तो मैंने उत्तर दिया- "मेरी आँखें ऐसी कमज़ोर नहीं हैं, दुर्गा।"

"मेरा उत्तर सुनकर वह चुप रह गई। लेकिन कुछ सोचकर क्षण भर बाद उसने कहा—'आप से तो बात करना तक मुश्किल है।'

"बारह बजे ग्रामोफ़ोन बन्द कर लेटे-लेटे मैं कुछ पढ़ने लगा। कितनी देर तक मैं पढ़ता रहा, कितनी बार उठ कर पलँग पर बैठ गया, कितने सिगरेट मैंने सुलगाये और कब-कब मैं कमरे में टहलता रहा, यह सब जैसे दूसरे कमरे में लेटी हुई वह बराबर ताड़ती रही। दो बजने पर वह एक बार फिर मेरे सामने आ उपस्थित हुई। उसे देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—"तुम सोई नहीं, दुर्गा?"

वह बोली— हाँ, नहीं सोई।' फिर थोड़ी देर रुक कर आप ही बोली—'मेरे लिये तो, खैर, एक कारण यह भी है कि यह नई जगह है; लेकिन आपको तो सोना चाहिये था। आपको नींद क्यों नहीं आती?'

यह दुर्गा का मेरे ऊपर एक आरोप था। वह चाहती थी कि मैं भी क्यों न यह स्वीकार कर लूँ कि दुर्गा मेरे लिए नई चीज़ है। इसीलिए मुझे नींद नहीं आती।

मैं सोचने लगा, 'सचमुच मेरा न सोना क्या मेरी दुर्बलता प्रकट नहीं करता?' मैंने उत्तर दिया—'सोना तो नित्य है, दुर्गा!'

मैं सोचने लगा, मेरे इस उत्तर को पाकर उसको अवसर मिला है कि वह स्पष्टतया कह दे—क्या तुम्हारे लिये दुर्गा अनित्य है ? किन्तु उसने फिर कोई उत्तर नहीं दिया। देर तक वह मेरे खुले कमरे के द्वार की चौखट पकड़े खड़ी रही और देर तक मैं उसकी कमनीय रूप-राशि को एकटक देखता रहा। अन्त में मैंने ही प्रकाश बुझाते हुये कहा—'अब तुम सोओ दुर्गा ! मैं भी सोता हूँ।' वह लौट पड़ी। किन्तु लौटते क्षण मैंने अनुभव किया, जैसे युग युग तक की संचित साँस एक साथ निःसृत हो रही हो। कमरे में बिलकुल अँधेरा था। एकादशी का चन्द्रमा अस्त हो गया था। झिल्ली के सिवा कहीं से भी कोई शब्द नहीं सुनाई पड़ता था। महीनों जिस मकान में अकेला रहा हूँ, वही मकान उस रात को मेरे लिये मानो एक पहेली बन गया था। कभी उसकी चूड़ियाँ खनक उठती, कभी ऐसा प्रतीत होता, मानो कोई निःश्वास ले रहा है। किन्तु थोड़ी देर के बाद मेरी स्थिति में परिवर्तन हुआ। मेरी आँखें झपक गईं। मुझे नींद आने लगी। सब कुछ मेरे लिये शून्य हो गया। पर यह सब कितनी जल्दी हो गया इसकी चेतना भी धुँधली हो गई। केवल एक अनुभूति कभी-कभी मेरे मन में उदित हो उठती। वह यह कि मेरा संसार कितना मधुर है। इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु कितनी सुन्दर है और मेरे चारों ओर कितनी सुवास फैली हुई है ! अन्त में यह मिठास भी एक विचित्र प्रकार की कोमलता में परिणत होने लगी। मुझे ऐसा जान पड़ा जैसे रेशम के-से कुछ मुलायम लच्छे मेरे केशों को स्पर्श कर रहे हैं और उनके साथ भीनी-भीनी सुगंध के झकोरे मुझे छू-छू जाते हैं। फिर जान पड़ा, किसी की कोमल अँगुलियाँ मेरे सिर के केश गुच्छों के बीच में आ-आकर उसे सुहला रही हैं। कभी-कभी कानों के पर्दों पर मैं स्पष्ट रूप से किसी की साँस का अनुभव

करता हूँ। किन्तु अपनी इस विचित्र स्थिति के मोह को मैं अधिक काल तक उस उपचेतना में भी संवरण न कर सका। एकाएक मेरी आँख खुल गई। मैं उठकर बैठ गया। बैठे अभी एक सेकण्ड ही मुश्किल से बीता होगा कि मैंने देखा, एक छाया मेरे सामने से एक ओर हट गई। सन्देह-निवारण के लिये मेरे मुँह से एकाएक निकल गया—'दुर्गा ?'

छाया स्पष्ट होकर बोल उठी—'हाँ, मैं ही हूँ बाबू।'

मैंने पूछा –'यहाँ कैसे आई ?'

वह बोली—'कुछ नहीं, आप यों ही शायद स्वप्न में कुछ बड़बड़ा रहे थे, उसी को सुनने आ गई थी। किन्तु आपको इससे क्या, आप सो जाइये।' वह फिर दूसरे कमरे में चली गई। किन्तु वहाँ पहुँचते ही धम्म से चारपाई पर गिर पड़ी और रो-रोकर सिसकियाँ भरने लगी।

पहले तो मुझे अपने अनुभव पर सन्देह हुआ, परन्तु अपना भ्रम दूर करने के लिये जब मैं उस कमरे में जा पहुँचा, जिसमें उसके सोने का मैंने प्रबन्ध किया था, तो मैंने प्रत्यक्ष देखा कि मेरा अनुभव काल्पनिक न हो कर सत्य था। मैंने पूछा—'आखिर इस अभिनय का क्या मतलब है, दुर्गा ?"

मेरी गम्भीर वाणी को सुनकर वह काँप उठी। और इसका अनुभव मुझे तब हुआ, जब उसके कण्ठ के स्वर में भी वह कम्पन स्पष्ट झलक पड़ा।

आँसू पोंछकर बड़ी कठिनाई से अपने को प्रकृत स्थिति में लाकर उसने कहा—'मुझे आप क्षमा कर दीजिये। मैं कल ही दूसरी जगह चली जाऊँगी। मैं यह नहीं सहन कर सकती कि मेरे

कारण आप रात में सो भी न सकें, आपको सोते से उठ-उठकर जागना पड़े। मैं ..मैं...

और कहते-कहते वह फिर सिसकने लगी।

अब मेरा स्वप्न भंग हो गया। मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि जिस प्रकार की मानसिक अस्वस्थता का आरोप मैं दुर्गा पर करने जा रहा था, उसका अपराधी स्वतः मैं भी कम नहीं था।

इसके बाद मैं चुपचाप आकर अपने पलंग पर लेट रहा। थोड़ी देर में सवेरा हो गया और ज्यों ही मैं चारपाई से उठा, त्यों ही मैंने सुना, सदर दरवाज़े को बन्द करते हुए उसने कहा—'मैं जाती हूँ। अपना घर देखियेगा।'

इतना कहकर त्रिलोचन चुप हो गया, जैसे उसे और कुछ कहना ही न हो। पर गणेश के हृदय में उथल-पुथल-सी मची हुई थी और वह दुर्गा के सम्बन्ध में कुछ और जानना चाहता था। थोड़ी दूर तक चुपचाप चलने के बाद उसने पूछा—"फिर क्या हुआ?"

"कुछ नहीं," त्रिलोचन ने कहा—"अब वह मेरे साथ नहीं रहती।"

बस, इससे अधिक त्रिलोचन ने कुछ नहीं बताया। गणेश के प्रश्नों को इधर-उधर करके उसने टाल दिया। ऐसा प्रतीत होता था मानो दुर्गा के सम्बन्ध में वह और कुछ नहीं बताना चाहता।

कुछ दिन बाद त्रिलोचन और गणेश इसी सड़क पर फिर टहलने के लिए निकले। एकाएक एक गाड़ी धीरे-धीरे सामने से आती देख पड़ी। उसमें कुछ तरुण महिलायें बैठी हुई थीं। गाड़ी एक विद्यालय की थी। जब वह सामने आई तो उसमें बैठी युवतियों में से एक, इन दोनों आदमियों को देखकर, दूसरे से

कानाफूसी करने लगीं। 'यही हैं त्रिलोचन बाबू!' शब्द स्पष्ट रूप से गणेश ने सुन लिये। साथ ही उसने उस युवती की ओर ध्यान से देखा भी।

गाड़ी जब आगे निकल गई तो गणेश ने पूछा—"तुमने कुछ लक्ष्य किया?"

अन्यमनस्क बनकर त्रिलोचन बोला—"यह तो कानों का धर्म ही ठहरा। खैर, तुम अपना मतलब बतलाओ।"

"यह लड़की तुमको पहचानती है?"

"अच्छा, मान लो पहचानती ही हो तो?"

'कौन है यह?"

"इससे तुम्हें बहस?" उत्तर देते हुये त्रिलोचन का स्निग्ध हास और मृदुल कण्ठ कुछ स्पष्ट झलक उठा।

अन्त में उस दिन जब गणेश त्रिलोचन से विदा लेने लगा तो उसने कहा—'मैंने तुमको समझने में जो ग़लती की, उसके लिए मुझे क्षमा करो और जब कभी रुपये की ज़रूरत हो, बराबर माँग लिया करो। अब तक मैं तुमको विवश होकर रुपया देता था, अब अपना गौरव समझ कर दिया करूँगा।'

स्वर्ग-सुख

मातावदल नगर का नामी मिस्त्री था। साइकिल और मोटर-साइकिल दुरुस्त करने के काम में वह उस्ताद था। इस सम्बन्ध का कोई भी काम उसकी दूकान से वापस न जाने पाता था। अब वह वृद्ध हो चला था। उसके गाल पिचक रहे थे। चेहरे पर झुर्रियाँ साफ झलकने लगी थीं। आँखें गड्ढों में धँसी जा रहीं थीं। बात यह थी कि पिछले दस वर्ष उसने बड़ी मेहनत में बिताये थे। सड़क के चौराहे के कोने में, बड़े अच्छे मौके पर उसकी दूकान थी। इसलिए सवेरे से लेकर रात के बारह बजे तक उसके यहाँ ग्राहकों का आना-जाना बराबर लगा रहता था। आमदनी की बात ठहरी। इसी प्रलोभन में मातावदल की दूकान रात के बारह बजे तक खुली रहती थी।

मातावदल ने अब रुपया भी काफ़ी पैदा कर लिया था। उसकी दूकान पर अब कई छोटे-छोटे लड़के काम करते थे। अब उसको अकसर फुरसत मिलने लगी थी। जब कभी लड़के शैतानी कर बैठते, तो मातावदल किसी को पकड़ कर उसके सिर पर तड़ी रसीद कर देता, किसी के कान मल देता और किसी-किसी को दो-चार खरी-खोटी सुना देता। लड़के थोड़ी देर में मिल जाते और आपस में हँसी करने लगते। इन्हीं लड़कों में एक लड़का रघुआ नाम का था। कोई-कोई उसे रग्घू भी कहा करते थे। पर असल में क्या रघुआ और क्या रग्घू दोनों ही नाम उसके बिगड़े हुए नाम थे। वास्तव में नाम उसका बड़ा दिव्य था—राघव।

उस लड़के का 'राघव' नाम जैसा दिव्य था और जैसे उसको पुकारने वाले उसे 'रघुआ' कहकर एक हलके प्यार की छाप लगा देते थे, वैसे ही राघव का स्वभाव भी कुछ कम दिव्य न था। वह बड़ा हँसोड़ था, बड़ा दिल्लगीबाज़। वह अपने सब साथियों को खूब हँसाया करता था।

मातावदल को अब खाँसी आने लगी थी। जब वह किसी पर बिगड़ने लगता था, तो खाँसी के साथ-साथ उसकी साँस भी उखड़ पड़ती थी। दोपहर को जब वह घर पर खाना खाने न जाता तो किसी-न-किसी लड़के को घर भेजकर खाना मँगा लेता था। एक दिन पानी बरस रहा था। ऐसी झड़ी लगी थी कि किसी लड़के का दूकान से निकल कर सड़क पर आना कठिन हो रहा था। दोपहर हो गई थी। सब लड़के बारी-बारी से, समय निकाल कर, छाता लगाकर, अपने अपने घरों से खाना खा आये थे। अब मातावदल की बारी थी। जिस समय लड़के खाना खाने के लिए गए थे, उस समय तो उतनी ज़ोर से पानी नहीं बरसता था, पर अब तो छाया को भी पानी का बरसना बन्द नहीं हो रहा था। यह हालत देखकर मातावदल बड़बड़ाने लगा—अब यह पानी भी दम नहीं लेगा। कितनी देर से देख रहा हूँ. साला बन्द ही नहीं होने आता है। परांठे तो भीग ही जायँगे, आलू-गोभी का साग भी सत्यानाश हो जायगा ! कैसा साला...... उँह देखो तो, झड़ी लगाये हुए है।

रघुआ ने नीचे मुँह किये हुए, अपने साथियों की ओर एक बार आँखों का चक्कर लगा कर धीरे से कहा—बकरा सनका-सनका। बस, अब ..(तब तक एक साथी इस्माइल ने ज़रा-सा हँस दिया) खाँसना ही चाहता है।

रघुआ यह कह कर चुप हो गया। इस्माइल हँस-हँसा-कर टेढ़ा-तिरछा मुँह बनाने लगा। तिरवेनी से न रहा गया। वह ठट्टा मार कर हँस पड़ा। रघुआ धीरे से कह उठा—लो बच्चू, अब की मरम्मत हुए बिना... । वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि बुड्ढा बोला—क्या है रे तिरवेनी, बड़ी हँसी छूट रही है। आऊँ क्या? सालों को बीसों मरतबे समझाया, मानते ही नहीं। आज एक-एक को देखूँगा—क्यों हँसता है बे? बोल तो!!

तिरवेनी ने मुँह लटका लिया। वह बोला—कुछ नहीं दादा, यह रघुआ... देखो देखो, अब तक हँसी लगा रहा है।

बुड्ढा बोला—वह तो चुपचाप टायर लगा रहा है। साला झूठ बोलता है।

इतना कह कर वह उठा और चला तिरवेनी के चपत जमाने। एक-दो-तीन, अरे-अरे—चटापट। देखते-देखते, उसके, पाँच-सात, चपतें बैठ गईं। बुड्ढा कहता गया—ले साले, ले साले, और हँसेगा और हँसेगा!

तिरवेनी कहता गया—नहीं दादा—नहीं दादा। अब नहीं।

लेकिन सच पूछो तो माताबदल बहुत सहती हुईं चपतें, पोले हाथों से, लगाता था। वह खुद यह नहीं चाहता था कि तिरवेनी चपतें सहन न कर सके और रोने लगे। उसे किसी का रोना बहुत बुरा लगता था।

बुड्ढा चपतें लगाकर, लौट कर अपने बिछे हुए तख्त पर बैठ भी न पाया था कि रघुआ बोल उठा—बड़ा साला फुर्तीला है। रघुआ इतना ही कह पाया था कि बुडढे ने मुँह घुमाकर, एक-आध सफ़ेद-सफ़ेद चमकने वाले बालों-वाली भौंहें चढ़ाकर पूछा—क्या है रे, रघुआ?

रघुआ बोला – कुछ नहीं दादा, एक बुड्ढा मुसवा था, जो चटपट मेरी टोकनी से एक धान की खील उठा कर चट कर गया और मैं देखता ही रह गया। बड़ा साला बदमाश है। ऐसा बड़ा खुर्राट है कि... ।

रघुआ की बात पर इस्माइल और निरञ्जनी दोनों के दोनों फिर खिलखिला पड़े। बात यह थी कि रघुआ के पास जो टोकरी रक्खी थी, उसमें अब धान की खीलें गिनती की तीन रह गई थीं। और यहाँ किसी चूहे का पता न था।

इसी समय एक ग्राहक आकर तिपाई पर बैठ गया और कहने लगा—मेरी साइकिल का टायर दो जगह कट गया है। उसमें टायर के टुकड़े रख देने की ज़रूरत है।

बुड्ढे ने जैसे कुछ सुना न हो। वह कह रहा था-देखा आपने, साले सब-के-सब शैतान के बच्चे हैं। आपस में हँसते हैं, और मुझे बहला देते हैं। अभी-अभी इस छोकरे की खोपड़ी गरम करके लौटा था कि देखो फिर हँसने लगा।

ग्राहक बोला—अजी, जाने भी दीजिए, लड़के ठहरे। लड़कों का स्वभाव ही ...।

बुड्ढा बिगड़ कर बोल उठा—जाने क्यों दें, जनाब! यह दूकान है, या कोई चंडूखाना।

ग्राहक—बड़ी जल्दी आपका मिजाज़ गरम हो जाता है। मैंने तो धीरे से आप से कहा और आप इस तरह बिगड़ उठे।

अब बुड्ढा कुछ शांत होकर बोला—बिगड़ने की बात नहीं है, बाबू जी, ये सब-के-सब बड़े शैतान हैं, आप इन्हें नहीं जानते।

ग्राहक बोला—ख़ैर, होगा। आप भी तो कभी लड़के रहे होंगे। क्या आप बिल्कुल सीधे-सादे—एकदम—बहुत ही अच्छे लड़के रहे होंगे? मुझे तो यक़ीन नहीं होता। माफ़ कीजिएगा।

अब मातावदल ने भी थोड़ा मुसकरा दिया। वह बोला—ख़ैर, कहिए आपका काम क्या है?...और हाँ रे रघुआ, देख पानी कुछ मध्यम हुआ, जा, खाना तो ले आ।

रघुआ ने चट से एक नई साइकिल ली और चल खड़ा हुआ। इस्माइल बोला—बाबू जी, रघुआ नई साइकिल ले गया।

बुड्ढा बोला—देखी बाबू जी आपने उस छोकरे की शैतानी। नई साइकिलें ग्राहकों के लिए ली गई हैं या इन बदमाशों के लिए?

ग्राहक—आपका कहना भी ठीक है। पर आप इसकी निगरानी क्यों नहीं रखते?

बुड्ढा—निगरानी! अब निगरानी—आप ही बतलाइए, जब तक ख़बर पाऊँगा, तब तक वह लेकर चम्पत हो जायगा! यही तो इनकी बदमाशी है। और मैं आपसे अर्ज़ क्या कर रहा हूँ।

ग्राहक—अच्छा, अब हमारे फटे टायर के अन्दर टुकड़े तो रखवा दीजिये। कितनी देर से बैठा हूँ।

(२)

मातावदल के घर में उसकी बुढ़िया पत्नी थी और एक कन्या। बच्चे तो उसके कई हुए थे, पर कुछ ही दिनों तक अपनी लीला का आलोक दिखाकर अन्तर्धान हो जाते रहे थे। कन्या

अभी छोटी ही थी। कोई सात वर्ष की होगी। नाम था पार्वती।

पार्वती ही उस बुढ़िया के अँधेरे घर का प्रकाश थी। जब कभी वह जो चीज़ चाहती, तब, उसी समय उसके लिए, वही चीज़ बुढ़िया मँगा देती थी। एक मास्टरनी उसे पढ़ाने को उसके घर पर आती थी। बुढ़िया और बुड्ढे, दोनों का विश्वास था कि लड़कियों के स्कूल में पार्वती को भी अगर पढ़ने को भेजा जायगा, तो वह पढ़ेगी तो कम, लेकिन शौक़-जौक़ और फिजूल-ख़र्ची ज्यादा सीख लेगी। इसीलिए पार्वती की शिक्षा उसके घर पर ही होती थी। लेकिन पढ़ने में उसका जी नहीं लगता था। वह दिन भर मुहल्ले की लड़कियों के साथ खेला करती थी। मास्टरनी आती तो उसे कभी मालूम होता, आज पार्वती की तबीयत ठीक नहीं है, उसके सिर में दर्द है, वह आज नहीं पढ़ेगी। कभी मालूम होता, आज उसकी गुड़िया का ब्याह है, भला आज पढ़ने का क्या काम? इस तरह पार्वती की शिक्षा का कार्य बहुत ही मन्द-गति से चलता था। बड़ी कठिनता से वह डेढ़ साल में मामूली नाम लिखना सीख सकी थी।

रघुआ जब मातावदल के लिए खाना लेने आता, तो थोड़ी देर के लिए पार्वती रघुआ के साथ भी हँस-खेल लेती थी। रघुआ पार्वती को परेशान किये बिना न मानता। वह कभी उसके सिर के बालों में खोंसने के लिए गुलाब के फूल ले आता; कभी अँगरेज़ी खट-मिट्ठी धीरे-धीरे चूसने वाली मिठाई। वह जब मिठाई ले आता, तो पार्वती को दिखा-दिखा कर खाने लगता। पार्वती झपट कर उसके हाथ या जेब से मिठाई छीन लेने की चेष्टा करती। इस तरह जब तक एक-आध बार गुथ कर आपस में लड़ न लेते, एक आध बार इधर-से-उधर भाग न लेते और अन्य किसी तरह की

और कोई बात न होती, तो थोग्वे से चिकोटी काट-कर एक दूसरे को हँसा या ऊपरी मन से ऊँ-ऊँ करके रुला न लेते थे, तब तक दो में से किसी को संतोष न होता था। शिकायतें कभी बुढ़िया के पास पहुँचती और कभी सीधे मातावदल के पास। कभी रघुआ कहता—देखो बाबू जी, दादी ने मेरी टोपी कीचड़ में फेंक कर गंदी कर दी है, कभी पार्वती कहती—नहीं दादा, मैंने यह कुछ नहीं किया है। इसी ने मेरी गुड़िया का सिर हिला-हिला कर उखाड़ डाला है। बेचारा मातावदल जब कभी दोनों पक्षों की बात सुनने बैठता और चाहता कि कुछ न-कुछ फ़ैसला कर दिया जाय, तो वह दोनों को अपराधी पाकर हैरान हो उठता और ऊपरले मन से कहने लगता—यह रघुआ बड़ा शैतान हो गया है, क्यों री? अब इसको निकाल दिया जाय। क्यों? पार्वती उस समय मुँह लटका लेती और उसके मुँह से फिर कोई बात सहसा नहीं निकलती थी। मातावदल अपने पोपले मुँह पर मंद-मंद हास्य छिटकाता हुआ पार्वती के पीछे पड़ जाता था। वह यह जानते हुए भी कि पार्वती रघुआ का हटाया जाना पसंद न करेगी, बार बार इसी की बातें करने लगता था। लाचार होकर पार्वती को कहना पड़ता—नहीं दादा, रघुआ की मैं शिकायत थोड़े ही करती हूँ। उसने जब मेरी शिकायत की, तब फिर मुझे भी उसकी शिकायत करनी पड़ी। नहीं तो, वैसे मैं उससे कुछ ज्यादा नाराज़ तो हूँ नहीं। मातावदल जब पार्वती का यह उत्तर पाकर कहता—तो रघुआ बड़ा ही अच्छा लड़का है। क्यों न? जाड़ा आ गया है, उसके लिए ऊनी कोट बनवा दिया जाय, क्यों? तो पार्वती उसी समय आकर मातावदल की गोद में बैठकर कभी उसकी दाढ़ी के बाल सहलाने लगती और कभी उसके कोट के

बटन खोलने लगती थी। मानो यही उसके प्रश्न का उत्तर होता था।

(३)

रघुआ दूकान में ही सोता था। उसके घर-द्वार कोई न था। जब उसने अपनी सुध सँभाली थी, तब उसने अपने आपको गंगा घाट पर भीख माँगते हुए पाया था। मातावदल एक दिन गंगा-स्नान करके ज्योंही लौटने लगा, त्यों ही रघुआ कई लड़कों के साथ उसके पीछे पड़ गया। और लड़के तो अन्य लोगों से कुछ पैसे पा चुके थे, पर उस रघुआ को एक पैसा भी न मिला था। इसीलिए वह बड़ी दूर तक मातावदल के पीछे-पीछे चला आया। अन्य लड़के लौट गए थे। मातावदल ने अपनी जेब टटोली, तो एक भी पैसा न था। रुपए ही रुपए थे। विवश होकर कहना पड़ा—यहाँ तो पैसे नहीं हैं। और तू इतनी दूर तक मेरा पीछा करता हुआ चला आ रहा है। इसलिए अब तुझे लौटाऊँगा नहीं। दूकान पर चल तो तुझे पैसे दूँ। इस तरह रघुआ मातावदल की दूकान तक उसके पीछे पीछे चला आया था।

दूकान पर बक्स से पैसे निकाल कर ज्योंही मातावदल रघुआ को पैसे देने लगा, त्योंही उसके मन में आया कि उसका हाल-चाल भी पूछ देखूँ। इसलिए पैसे संदूकचे के ऊपर रखकर मातावदल ने पूछा—पैसे लेकर क्या करोगे, बाल ?

रघुआ तब जरा और छोटा था। यही ४–६ वर्ष का रहा होगा। उसके बालों में कड़वा तेल पुता हुआ था। उसपर धूल भी काफ़ी जमी हुई थी। स्वस्थ देह पर एक फटा पुराना चीकट

कुरता था, जिसकी बाहें हाथों को पार कर जातीं। यदि वह लौटाई न गई होतीं। कुरते की लम्बाई पैर की गाँठों को पार कर गई थी। इस कुरते के सिवा उसके बदन पर कोई दूसरा कपड़ा न था। इसलिए कहना होगा, भीतर से वह नंगा था।

खीसें बाकर, आगे के बड़े-बड़े दो दाँत दिखलाते हुए, रघुआ बोला—जिवेली खायँगे।

मातावदल की छोटी कन्या पार्वती तब ढाई-तीन वर्ष की रही होगी। वह भी तोतली बोली बोलने लगी थी। इसीलिए 'जिवेली' शब्द के समझने में मातावदल को ज़रा भी देर न लगी। उसके मन में आया कि उसे एकदम से उठाकर उसका धूल-धूसरित मुख चूम ले, पर कुछ सोच कर वह स्थिर रहा।

अब मातावदल ने पूछा—तेरी माँ कहाँ है?

रघुआ—माँ-माँ, क्या जाने कहाँ चली गई। दस-बारह दिन से मिली ही नहीं। सभी जगह तो ढूँढ फिरा।

माता०—तो वह कहीं चली गई?

रघुआ ने कुछ उत्तर न दिया। उसकी आँखों में आँसू झलक आये।

मातावदल ने फिर पूछा—और तेरा बाप कहाँ है?

रघुआ ने उत्तर दिया—मैं नहीं जानता।

मातावदल मन-ही-मन कहने लगा—बेचारा अनाथ है। फिर वह बोला—अच्छा, अब तुम कहाँ जाओगे?

रघुआ—अपने साथियों के पास जाऊँगा, और कहाँ।

माता०—वहाँ जाकर क्या करोगे?

रघुआ—पैसे माँगूँगा, जिवेली खाऊँगा और घूमूँगा !

माता०—रात में कहाँ रहते हो ?

रघुआ—अपने साथियों के साथ, जहाँ जी में आया, वहीं सो रहा।

माता०—अगर तुम मेरे यहाँ रहो, तो कैसा हो? रोज़ जलेबी खाने को मिलेंगी, कपड़े भी पहनने को मिलेंगे। इसके सिवा जो कुछ तू चाहेगा, वह भी दिया जायगा।

रघुआ कुछ सोचने लगा।

मातावदल भी रघुआ के मन का भाव ताड़ने की चेष्टा करने लगा। थोड़ी देर तक जब रघुआ मौन रहा, तो मातावदल ने फिर पूछा—बोलो, क्या कहते हो ?

रघुआ ने कहा—मैं तुम्हारे यहाँ नहीं रहूँगा।

मातावदल—क्यों ?

रघुआ फिर चुप था। मातावदल ने कहा—तुम्हें मेरे यहाँ कोई तकलीफ़ न होगी। यह कह कर उसने अपने यहाँ काम करने वाले एक लड़के तिरबेनी से मिठाई और जलेबी मँगा-कर रघुआ को खिलाई।

रघुआ खुशी-खुशी मिठाई खाने लगा। आज उसने पेटभर मिठाई खाई। मिठाई खाने के बाद उसने निकट ही सड़क पर लगे हुए पाइप में पानी पिया। अब वह बड़ा खुश देख पड़ा।

मातावदल ने कहा—ये लड़के दूकान में काम करते हैं, इन्हीं के साथ खेला करना। क्यों, है न तुम्हारा जोड़ ?

रघुआ खुश होकर, दाँत बाकर उनकी ओर देखने लगा।

इस प्रकार रघुआ मानावदल के यहाँ हँसी-खुशी से रहने लगा। एक-आध बार जब उसे अपने पुराने साथियों की याद आई। तो वह भाग भी गया। पर उनके साथ रहकर जब वह भूख न सह सका तो फिर लौट आया। जब कभी उसका कोई साथी मिल जाता, तब वह देर तक उससे तरह तरह की बातें करता रहता। कभी-कभी उसकी इच्छा उनके साथ रहने की भी हो आती, पर उस अनिश्चित जीवन के कष्टों को सह सकने योग्य सामर्थ्य उसमें रह न गयी थी। बल्कि ऐसे जीवन से अब वह घृणा भी करने लगा था। इसका एक कारण यह भी था कि किसी से कोई वस्तु माँगते हुए उसकी आत्मा को बहुत क्लेश पहुँचता था।

(४)

पार्वती अब सयानी हो रही थी। उसके मृदुल चंचल स्वभाव में गंभीरता आने लगी थी। दौड़ कर चलना, रघुआ पर किसी विशेष वस्तु के लिए एकदम से आक्रमण करना, साधारण-सी बात पर उससे मान करना या ठट्टा मार कर हँसना धीरे-धीरे कम हो चला था।

लेकिन रघुआ का लड़कपन अभी तक वैसा ही बना था। जब कभी मौज में आता, ज़रा भी सड़क ख़ाली देखता, तो वह चट साइकिल के हथकंडे दिखाने लगता था। कभी साइकिल पर चढ़े-चढ़े उसका अगला पहिया उठा लेता, कभी दो साइकिलें लेकर क्षण-क्षण में एक से दूसरी पर आता-जाता और दोनों को बराबर चालू रखता, कभी उसकी 'सीट' पर पेट के बल लेट जाता, पैर 'कैरिअर' पर पीछे रख लेता, और दोनों हाथों से दोनों ओर के 'पैडिल' घुमा-घुमाकर साइकिल दौड़ाता और जब चाहता, तभी चट से साइकिल खड़ी करके नीचे आ जाता। इस तरह के

खेल दिखलाते हुए उसे अपार हर्ष होता था। एक बार रघुआ यह खेल दिखलाने में व्यस्त था, उसी समय एकाएक पार्वती दूकान पर आ गई। दूकान के अन्दर बैठी हुई वह चुपचाप रघुआ के खेल देखती रही। एक बार रघुआ दो साइकिलों को चलाते हुए दोनों की सीटों पर उछल-कूद कर रहा था। एकाएक सामने एक आदमी आ गया। रघुआ ने उसको बचाने की चेष्टा की, तो धड़ाम से दोनों साइकिलों को लेकर सड़क पर आ रहा। दर्शकों ने करतल ध्वनि की और उसी समय पार्वती भी हँस पड़ी। फिर तो रघुआ दूकान में पार्वती को बैठा हुआ देखकर बहुत लजा गया। वह दूकान की ओर बढ़ा, तो उसने देखा पार्वती उसकी ओर देखकर मुँह में रुमाल लगाये हुए मुस्करा रही है। अब तो रघुआ और भी कट गया।

पर रघुआ कुछ बोला नहीं। हाँ, कोई एक भाव उसके मन को मसोसने ज़रूर लगा। बार-बार उसके जी में आया, अगर मैं अपने मन में साइकिल पर पूरी तरह से अधिकार होने का अभिमान न करता, तो काहे को आज मुझे पार्वती के सामने लज्जित होना पड़ता। बार-बार वह अपनी चंचलता को धिक्कारने लगा। उसका चेहरा बिल्कुल उतर गया।

रघुआ को अन्य मनस्क देखकर पार्वती ने कहा—दादा, मैं तो रग्घू भैया के खेल देखकर एक दम से चकित हो गई।

यह कह कर पार्वती रघुआ की ओर देखने लगी।

मातावदल बोला—हाँ बेटी, रघुआ साइकिल का मास्टर है।

पार्वती बोली—कहीं नुमायश या मेला हो और वहाँ रघु भाई अगर अपने इस तरह के करिश्में दिखलाने का मौका पायँ और टिकट लगा दिया जाय, तो सैकड़ों रुपए इकट्ठे हो जायँ।

माताबदल—वैसे ही रघुआ कौन कुछ कम पैदा करता है। अब उसने रुपया जमा करना शुरू कर दिया है। तीन-चार सौ रुपए जमा कर लिया होगा। क्यों रे ?

रघुआ प्रसन्नता से गद्गद् हो गया। उल्लसित मुख से, अपने दोनों बड़े-बड़े दाँत बाहर निकाल कर बोला—हाँ दादा, अब तो पूरे चार सौ रुपए हो गये।

मातावदल—फिर क्या है. जहाँ एक हज़ार पूरे हो गए, रघुआ का ब्याह कर दूँगा।

रघुआ ने पार्वती की ओर देखते हुए कहा—नहीं दादा, मैं ब्याह-आह नहीं करूँगा। इसी तरह बड़े मज़े में हूँ।

मातावदल—दुत! पागल कहीं का! यह क्या कहता है! ब्याह नहीं करेगा, तो क्या तेरे लिए रोटी पो-पोकर खिलाने को पार्वती यहाँ बैठी रहेगी।

रघुआ एकाएक गम्भीर हो गया। उसकी समझ में नहीं आया कि अब वह क्या उत्तर दे। और कुछ इधर-उधर न देखकर वह एक ग्राहक की साइकिल की मरम्मत करने में लग गया। इतने में दो ग्राहक आ गये। मातावदल की बात जहाँ थी, वहीं पड़ी रह गई। पार्वती भी घर की ओर चल दी।

(५)

पार्वती का ब्याह हो गया। वह अपनी ससुराल चली गई।

घर पर पार्वती की बुढ़िया माँ ही अकेली रह गई थी। रोटी बनाने के लिए एक महाराजिन आने लगी थी। कुछ दिनों तक तो पार्वती का अभाव बहुत खलता रहा; पर फिर धीरे-धीरे सब काम ढंग पर आ गया।

जब कभी पार्वती की माँ की तबियत ख़राब होती, तो वह सोचती, यदि इस समय मेरी पार्वती होती, और मेरे निकट बैठती, सिर में दर्द होता तो तेल की मालिश करती; पैरों में दर्द होता तो पैर दबाती। हाय, इस समय मेरी पार्वती भी नहीं है।

माताबदल के कोई लड़का न था। उसके प्राणों की निधि, उसकी एकमात्र आशा, अगर कोई थी, तो पार्वती। सो वह भी अपने घर की हुई। अब रघुआ ही निरन्तर उसके सामने रहता था। लेकिन तब और अब के रघुआ में बड़ा अन्तर हो गया था। पहले तरह-तरह की रंगीली बातें तथा चुहुलबाज़ियों द्वारा लोगों को सदा हँसाते रहने में ही उसका सारा समय जाता था। और न सही, तो वह अपने साथियों से लड़ ही बैठता था, और कुछ देर के लिए यही एक नुसखा बन जाता था। पर अब रघुआ एक युवक के रूप में आकर मातावदल की दूकान का मिस्त्री था। उसके साथी इस्माइल और तिरबेनी भी धीरे-धीरे चले गये थे। तिरबेनी कहीं मोटर-ड्राइवर हो गया और इस्माइल ने उन्नति करके साइकिल की दूकान खोल ली थी। पहले जब कभी रघुआ को भूख लगती, तो वह झट मातावदल के लिए खाना लाने के बहाने घर को चम्पत हो जाता था। अब दोपहर के बाद एक भी बज जाता है तो रघुआ काम छोड़कर खाना खाने नहीं जाता। उधर मातावदल घर पर पड़ा रहता है। कभी कभी उसकी साँस फूल आती है। खाँसी तो जैसे उसके साथ जीवन भर को लग गई है। जब कभी रघुआ को खाना खाने के लिए देर हो जाती, तो महाराजिन खाना ढक कर चल देती। खाना ठंढा हो जाता। रघुआ जब पहुँचता, तो उसी ठंढे खाने को पेट के अन्दर जैसे-तैसे छोड़ लेता था। पहले चार पराँठे खाने की भूख होती, तो पार्वती

से मीठी मीठी, सोंधी-सोंधी बातें करते-करते चुटकियाँ बजाते हुए, छः खा जाना और कुछ मालूम न पड़ता था। अब चार की भूख होते हुए भी दो ही मुश्किल से पेट में छोड़ पाता था। देर हो जाने पर माताबदल कहता—आज तो तुमने बड़ी देर कर दी, रग्घू।

रग्घू या तो कुछ उत्तर ही न देता, अथवा कह देता—हाँ दादा, काम ही ऐसा आ गया था।

एक दिन माताबदल ने कह भी दिया काम-ही-काम देखते हो, कुछ शरीर भी तो देखा करो। इसी से सब कुछ लगा है। तुम से रोज़ कहता हूँ, ब्याह कर लो, लेकिन तुम मेरी कुछ सुनते ही नहीं।

लेकिन रघुआ है कि ऐसी बातों का उत्तर देना नहीं जानता।

जब कभी पार्वती ससुराल से आती, तो एक नया संसार निर्मित हो जाता। उसके माता-पिता उससे बातें करते हुए फूले न समाते। पार्वती के लिए तरह-तरह का भोजन तैयार कराया जाता, बंगाली मिठाई और फलों की घर में इफरात रहती। कभी घर में गाना गाने वाली बुलाई जातीं और गान के एक बजे तक संसार का स्वर्ग माताबदल के घर के आँगन में नाचा करता। इस प्रकार इन दिनों आनन्द-विनोद माताबदल के परिवार के कोने-कोने में छितराया रहता था।

लेकिन रघुआ के मुख पर सदा गंभीरता की छाप रहती। पार्वती जब कभी कोई बात उससे कहती, तो वह बड़ी विनम्रता के साथ उसका उत्तर देकर चुप हो जाता। रघुआ का यह शुष्क व्यवहार पार्वती बहुत दिनों तक टालती रही। एक दिन जब उसका जी न माना, तो उससे कहा—राघव भैया, आज मैं तुमसे कुछ बातें करना चाहती हूँ।

रघुआ ने चकित होकर कहा—मुझ से !

पार्वती—हाँ, तुम्हीं से।

रघुआ—क्या, कहो।

पार्वती—देखती हूँ, तुम्हारा स्वभाव ही एकदम से बदल गया है। मुझ से भी तुम एकदम कटे-कटे से रहते हो। इस तरह बातें करते हो, जैसे मैं इस घर के लिए नई हो गई हूँ। क्या बचपन की बातें भी तुमने अपने हृदय से निकाल कर फेंक दी हैं? क्या तुम्हें कभी इतना अवकाश नहीं मिलता कि तुम घड़ी-दो-घड़ी को मुझ से भी मिलो, कुछ अपनी बात सुनाओ, कुछ मेरी सुनो।

रघुआ चुप था।

पार्वती पुनः बोली—बोलो न, चुप क्यों हो? मैंने जो कुछ कहा, तुमने उसे सुना नहीं?

रघुआ ने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों में आँसू भर आये।

पार्वती ने कहा—मैंने तुमको कभी दूसरा नहीं समझा। इस घर में सदा तुम मेरे भाई की तरह रहे हो। लेकिन ससुराल से आने के बाद तुम में बड़ा परिवर्तन देख रही हूँ। वह हँसना, वह मसखरी की बातें करना, वह छीन-झपट और वह मान-विरोध तो जैसे तुम सदा के लिए भूल गये हो। सच बताओ, क्या तुमको यहाँ कुछ कष्ट है?

रघुआ उत्तर देने की परिस्थिति में अपने को नहीं देखता। अतः उसने अब भी कोई उत्तर नहीं दिया।

पार्वती उसी तरह कहती गई—देखती हूँ, तुम्हारे मुख पर वह श्री भी अब नहीं रही है। सुनती हूँ, न तुम्हें खाने की परवा

है, न पहनने की। दादा ने बतलाया है, वह तुमसे कह-कह के हार गए, पर तुम अपना ब्याह भी करने के लिए तैयार नहीं हो। यह सब कैसी बातें हैं? तुम पागल तो नहीं हो गए हो?

अब रघुआ चुप न रह सका। उसने अपने आँसू पोंछ डाले और कहा—आप यह सब बातें मुझ से क्यों पूछती हैं? मैं आप की बातों का उत्तर तो न दूँगा, लेकिन—लेकिन मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपका इन बातों से क्या प्रयोजन है?

पार्वती—क्या कहते हो, किससे ये बातें कर रहे हो? क्या तुमसे ये बातें मुझे पूछने का अधिकार नहीं है?

रघुआ—न, तुम्हें इन बातों के पूछने का कभी अधिकार नहीं था, यह मैं नहीं कहता। लेकिन अब वह अधिकार ... ।

रघुआ की आँखें लाल थीं। उसका मुख एकदम तमतमा उठा था। उसने कहा—मैं इस सम्बन्ध में अब आप से क्या कहूँ? आपके शरीर में कहीं 'हृदय' नाम की कोई चीज़ है या नहीं, मैं तो यही निश्चय नहीं कर सका।

पार्वती ने गंभीर होकर कहा—तुम भूल कर रहे हो राघव! तुमने अभी संसार नहीं देखा है। देखा भी है, तो दूर से; उसका अनुभव तो क़तई नहीं किया। तुम्हारी ही तरह मैं भी रोना जानती हूँ। तुम तो पुरुष जाति के हो। तुम उतना रोना जानते भी नहीं, जितना मैं जानती हूँ। लेकिन ज़रा दूर तक सोच देखो। इस रुदन में क्या रक्खा है?

रघुआ एकटक पार्वती की बातें सुनता रहा। वह कुछ बोला नहीं। पार्वती कहती गई—और ये बातें पूछने के अधिकार की बात जो तुमने कही, सो उसमें भी तुमने भूल की है। यदि वह

अधिकार मुझे कभी था, तो क्या तुम समझते हो कि वह कभी मुझसे छिन भी सकेगा ? मैं सच कहती हूँ राघव, मुझ से वह अधिकार कोई नहीं छीन सकता।

रघुआ ने देखा, पार्वती का प्रफुल्ल मुख एकदम से उतर गया है, उसके गले का स्वर एकदम से विकृत होना चाहता है।

पार्वती कहने लगी—तुम मेरे जितने निकट तब थे, अब उस से भी अधिक निकट हो। तुम ब्याह कर लेते, तो मैं तुम्हें सहज ही में यह समझा सकती कि वास्तव में तुम मेरे कितने निकट हो।

रघुआ ने कहा—आपकी बातें बड़ी कठिन हैं। मैं उन्हें सुनते हुए सुखी तो होता हूँ, पर फिर भी उन्हें समझता नहीं। शायद समझ भी न सकूँगा।

पार्वती—तुम कैसे नासमझ हो, यह मैं जानती हूँ। तुम कैसे ज़िद्दी हो, यह भी मुझ से छिपा नहीं है। लेकिन तुम मेरी एक बात मानो, ब्याह करलो।

रघुआ—किससे ?

पार्वती के मुख पर मुस्कराहट दौड़ गई। रघुआ भी हँसने लगा।

पार्वती बोली—बड़े बने हुए हो।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नहीं।

पार्वती—बड़े ढीठ हो गए हो।

रघुआ—लेकिन तुमसे अधिक नहीं।

पार्वती—अब तुम पिटोगे।

रघुआ—क्या अभी कुछ कसर रह गई है। इतना पिट चुका

हूँ कि अभी तक छाले अच्छे नहीं हुए हैं।

पार्वती—देखूँ तो, दो-एक।

रघुआ ने छाती खोल कर दिखा दी। बोला—देख लो।

पार्वती ने देखा, रघुआ के बदन की एक एक पसली गिनी जा सकती है। वह बोली—वाक़ई बहुत दुबले हो गए हो।

रघुआ—लेकिन अब जल्दी ही तगड़ा हो जाऊँगा।

पार्वती—कैसे ?

रघुआ—बस, दो-तीन महीने में देख लेना।

पार्वती—तो मेरी कही मान लोगे—ब्याह कर लोगे न ?

रघुआ हँसने लगा।

पार्वती—सच बोलो, क्या पक्का कर लिया ?

रघुआ—हाँ।

पार्वती—कहाँ-किसके साथ ?

रघुआ—अब यह न पूछो।

पार्वती—देखो, अब तुम पिटना चाहते हो।

रघुआ—जितना पीटना था, पीट चुकीं। अब नहीं पीट सकोगी।

पार्वती—तो बोलो, अब तुम इस तरह तो कभी न रहोगे, जैसे आज कल रहते हो।

रघुआ—नहीं।

पार्वती—अच्छा मेरी कसम खाओ।

रघुआ—मैं किसी की कसम नहीं खाता।

पार्वती—तो मेरे शरीर पर हाथ रख कर कहो।

रघुआ—बस, हो चुका। अब अधिक मुझे विवश न करो।

दोनों की बातें अभी समाप्त न हो पाई थीं कि महाराजिन ने दो थालियों में खाना परोस कर दोनों को खाना खाने को बुलाया। दोनों अठखेलियाँ करते हुए खाना खाने लगे। पार्वती ने कचौड़ी-तरकारी का एक कौर रघुआ के मीठे दूध में छोड़ दिया। रघुआ ने अपना दो चमचा मीठा दूध पार्वती की तरकारी में उड़ेल दिया। इसी तरह दोनों हँसते-हँसाते रहे।

खाना खाने के बाद रघुआ ने माताबदल से कहा—मैं आज सिनेमा देखने जाऊँगा और ज़रा देर से लौटूँगा।

पार्वती ने कहा—दादा, मैं भी जाऊँगी।

माताबदल बोला--चली जाओ अपने रघुआ भाई के साथ। रघुआ, इसको भी साथ लेता जा।

(६)

पाँच वर्ष और बीत गए। न माताबदल इस संसार में है, न उसकी बुढ़िया। लेकिन रघुआ अब भी दूकान का मैनेजर है। पार्वती अब ससुराल छोड़कर यहीं अपने पिता के घर आ गई है। उसका स्वामी यहीं एक बैंक में, एकाउन्टेन्ट होकर आया है।

रघुआ अब भी अविवाहित है। वह सदा प्रसन्न रहता है और दुकान पर बैठा हुआ पार्वती के बच्चों को खिलाया करता है। उन बच्चों को हँसाने खिलाने में उसने अपने जीवन को मिला दिया है।

एक बार रघुआ के सामने पार्वती ने अपनी नन्हीं-सी बच्ची

से पूछा—तारा, तू किस की बच्ची है, बता तो।

तारा ने रघुआ की ओर उँगली उठा दी। दोनों निहाल हो गए। रघुआ ने अपने मन-मानस में तैरकर अनुभव किया, संसार का स्वर्ग-सुख भी, जान पड़ता है, ऐसा ही है।

पार्वती ने तारा को गोद में उठाकर उसका मुख चूम लिया। बोली—तू बड़ी रानी बिटिया है।

बधाई

"आप शायद सो गये थे। आपको मैंने ऐसे समय आकर कष्ट दिया, इसका मुझे खेद है। किन्तु मैं—मैं करता क्या? मेरे सामने एक ही प्रश्न था, कैसे मैं आप से मिलूँ—कैसे आपको अपना अन्तःकरण खोलकर दिखलाऊँ! आप विश्वास न करेंगे। सारी बातें एक विराट रहस्य से आवृत रहती हैं। किसी का कोई दोष नहीं है। अधिक क्या कहूँ? मैं दुःख के साथ आपको बधाई देने ही आया हूँ। मैं अब जा रहा हूँ। आप से आज्ञा चाहता हूँ। अब आप सोइये। मैं यह चला। नमस्कार।"

बस, इतनी बात कहकर रघुनाथ चला गया।

कुछ वर्ष पहले रघुनाथ यहाँ इस नगर में किसी काम-काज की तलाश में आया था। गिरधारी के यहाँ वह प्रायः देख पड़ता था। उसकी आँखें सदा कुछ न कुछ अध्ययन करती हुई प्रतीत होती थीं। यद्यपि वर्ण और वेश-भूषा उसकी काफ़ी उजली थी तो भी उसके मुख पर किसी प्रकार का उल्लास देख नहीं पड़ता था। गिरधारी के घर वह जब कभी देख पड़ता, यद्यपि मुझसे कुछ कहता न था, तथापि सदा उसको देखकर मुझ पर यही प्रभाव पड़ता था कि वह कुछ कह रहा है। उस समय मेरी इच्छा हो आती थी कि मैं उससे कुछ पूछूँ; किन्तु उसकी शान्त छाया से मैं कुछ ऐसा घिर

जाता था कि किसी प्रकार की बात उठाने के साहस भी मुझ में तिरोधान-सा हो उठता था।

जब रघुनाथ को कहीं कोई काम नहीं मिला, तो वह गिरधारी के यहाँ चुटपुट काम करने लगा। कभी वह साइकिल पर सवार होकर किसी के पास कोई संवाद लेकर जाता, कभी डाकखाने से पोस्टकार्ड और लिफ़ाफ़े लाता और गिरधारी की जो निजी डाक तैयार मिलती, उसे डाकबम्बे में छोड़ आता। वास्तव में यह काम एक चपरासी का-सा था। किन्तु रघुनाथ को ऐसे काम करते हुए भी कोई आपत्ति नहीं होती थी।

यह सब कुछ था, किन्तु रघुनाथ कभी, अपनी ओर से, किसी से कुछ कहता न था। गिरधारी भी उससे कुछ काम तो ले ही लेता था; तथापि उसे भी अभी तक उससे यह शिकायत बनी ही हुई थी कि वह अनपेक्षित रूप से गम्भीर है। कई बार उसने मुझसे कहा था—यह व्यक्ति बड़ा सच्चा, ईमानदार और परिश्रमी है। मुझे भय है कि एक न एक दिन, यहाँ से चल ज़रूर देगा। पर उसकी इस बात पर मुझे उतना दुःख न होता, जितना यह जानकर कि वह पागल हो गया है।

गिरधारी की यह बात सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ था। मेरे मन में आया था कि उस समय, मैं उससे स्पष्ट रूप से यह कह दूँ कि ऐसी दशा में उसे अपने यहाँ आश्रय देना उचित नहीं। व्यर्थ में एक उलझन क्यों मोल ली जाय? किन्तु फिर गिरधारी से इस तरह की बात कहने का उत्साह मैंने अपने में नहीं देखा। सम्भव है, इसका कारण यही रहा हो कि उन दिनों मैं रघुनाथ से कुछ सहानुभूति रखने लगा था।

गिरधारी मेरा मित्र है। मित्र से भी बढ़कर वह मेरे लिए श्रद्धा की वस्तु है। मैं उसका आदर करता हूँ। उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति होता, तो बिना किसी विशेष आवश्यकता के रघुनाथ जैसे व्यक्ति को आश्रय देने के लिए कभी तत्पर न होता। किन्तु वह मनुष्य को पहचानना जानता है। दूसरों के कष्टों के आगे उसे अपनी असुविधाएँ भूल जाती हैं।

एक दिन इंश्योरेंस कम्पनी के अपने आफ़िस से लौटते हुए गिरधारी ने, प्रसन्नतापूर्वक रघुनाथ को बुलाकर कहा—"आज मैं तुमको एक खुशखबरी सुनाना चाहता हूँ।" तो भी रघुनाथ ने लपक कर यह नहीं कहा कि 'सुनाइये, सुनाइये। जल्दी कीजिये।'

वरन्, इसके विपरीत, वह अपनी अँगुली का नख देखने लगा।

उत्साह से गिरधारी ने फिर कहा—"तुम्हारी नौकरी तय हो गई है। काम बहुत साधारण है। केवल डिस्पैचिंग करना होगा।"

गिरधारी ने देखा, रघुनाथ फिर भी मौन है, पर अब की बार उसका मौन गिरधारी को खल गया। वह बोला—"अगर आपको मेरी बात नहीं सुननी है, सुनकर उसको स्वीकार नहीं करना है, स्वीकार करके फिर उस पर अमल नहीं करना है, तो आपका यहाँ कोई काम नहीं है। आप खुशी खुशी जा सकते हैं।"

जवाब तो तब भी रघुनाथ ने मुँह खोलकर नहीं दिया; किन्तु उसके पलक ऊपर को उठ गये। एक बार उसने गिरधारी की आँखों से आँखें मिलाकर उन्हें देखा भी, किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी आँखें चमकने लगीं। उनमें आँसू भर आये। गिरधारी उसके भीगे पलकों को सहन न कर सका। वह बोला—"आप जीविका

ही तो चाहते थे। मैं इसी चेष्टा में लगा था। ईश्वर-कृपा से आपकी नौकरी ठीक हो गयी और अब आपको मुझ पर अवलम्बित रहने की आवश्यकता न होगी। अपने जीवन में आप अब एक अभिनव सुख-शान्ति की हरियाली लहलहाती हुई पायँगे।"

रघुनाथ ने गिरधारी के शब्दों को दोहराते हुए कहा—"जीवन में सुख-शान्ति की हरियाली...!"

उत्तर देते हुए उसके ओंठ कम्पित हो रहे थे। विषाद की म्लान छाया से उसकी मुद्रा नितान्त अभिभूत हो उठी थी। उसका वाक्य अधूरा रह गया। भीगे कण्ठ से वह अपनी बात पूरी न कर सका। गिरधारी कमरे में आकर, आफ़िस के ही वेश में, आराम-कुरसी पर पैर फैलाकर बैठ गया। हथेली पर मस्तक टेक कर देर तक वह यही सोचता रहा—इस रघुनाथ के लिए अब मैं क्या करूँ ? इस तरह से तो यह आफ़िस में भी कार्य न कर सकेगा। गूँगे क्लर्क के साथ निर्वाह कैसे किया जा सकेगा ?

किन्तु गिरधारी को इस सम्बन्ध में फिर कभी चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं पड़ी। क्यों कि दूसरे दिन से रघुनाथ उसके आफ़िस में काम करने लगा।

(२)

गिरधारी के आफ़िस में काम करते हुए पूरे छः महीने भी अभी रघुनाथ को नहीं होने पाये थे कि पचीस के बजाय अब उसे तीस रुपये मासिक वेतन मिलने लगा था। ब्राञ्च सेक्रेटरी उसके काम से बहुत प्रसन्न थे। चिठ्ठियों के ड्राफ्ट बनाने का अभ्यास यदि वह और करले, तो उन्होंने वचन दे दिया था कि

उसका वेतन चालीस रुपये मासिक कर दिया जायगा। किन्तु रघुनाथ को पत्रों के ड्राफ्ट तैयार करने का कार्य सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ी। ब्रांच-सेक्रेटरी के इस आश्वासन के दूसरे ही दिन से वह इस कार्य को भी सुचारु रूप से करने लगा।

अब रघुनाथ से हम लोगों का मिलना जुलना कम हो गया था। गिरधारी के घर भी अब उसका आना न होता था। आफ़िस में भी उसे इतना अवकाश नहीं मिलता था कि वह रघुनाथ के पास जाकर बैठता और उसकी तबियत का हाल-चाल लेता। पद-मर्यादा में उनके सीनियर होने के कारण वह ऐसा कर भी न सकता था। कार्य में संलग्न रहते हुए कभी-कभी रघुनाथ की छाया मात्र उसे देख पड़ती थी। पर उस क्षणिक दर्शन से रघुनाथ की जीवन-धारा का उसे भला क्या पता चलता ?

गिरधारी के जीवन में इधर नये नये परिवर्तन होते जा रहे थे। उनकी अवस्था अब चालीस से ऊपर थी और अब तक उन्होंने सन्तान का मुँह नहीं देखा था। रात दिन एक चिन्ता, एक अभाव की आग उनके भीतर-ही-भीतर धधक रही थी। किन्तु कभी वह किसी से कुछ कहते न थे। उनकी पत्नी दूसरी थी। जब उनका यह विवाह हुआ था, उस समय वह केवल चौदह वर्ष की थी। किन्तु गिरधारी तीस पार कर चुका था। नवपत्नी को पाकर पहले उसने समझा था—वास्तव में उसका भाग्य अब खुला है। जीवन में अब उसको और चाहिए क्या ? रुपये-पैसे की कमी नहीं है, मकान अपना है। पत्नी कितनी सुशिक्षित, सुशील और सुन्दरी ! हाँ अवश्य एक कमी है। वह जानता है। पर उसको ऐसी जल्दी क्या है ! भगवान चाहेगा, तो वह दिन भी...।

जीवन आशा का ही दूसरा स्वरूप है। सरिता की उपत्यका में बैठकर, हरियाली ही-हरियाली आँखों में भरकर, सुमन-दलों की सुकुमारता का ही अनुभव करते-करते गिरधारी निकट खड़े हुए गगन-चुम्बी शाल-वृक्ष की ओर देख रहा था।

वह सोचता था -जिस स्रष्टा ने यह हरियाली दी है, वही वह छाया-तरु भी देगा। देर हो सकती है, किन्तु आशा सदा मरीचिका ही नहीं बनी रह सकती। कभी न कभी तो वह दिन आयगा ही, जब...।

लेकिन वर्ष-पर-वर्ष बीतते गये, गिरधारी के जीवन में वह दिन नहीं आया।

पुष्पा खाना परोस कर प्राय: गिरधारी के निकट बैठ उस पर व्यजन डुलाती। प्रारम्भ में, ऐसे अवसरों पर भी, मनोविनोद चलता था। अब वह बात न थी। अब तो गिरधारी ऐसे समय, पुष्पा से बोलते हुए भी, भय कातर-सा रहने लगा था। पलक उठा कर उसकी ओर देखना उसके लिए दुष्कर हो जाता था। बातें होती थीं, किन्तु वे प्राय: गृहस्थी की दैनिक आवश्यकताओं से ही सम्बन्ध रखती थीं। मनोरंजन भी कभी-कभी चल उठता था; किन्तु उसका हेतु होता था केवल उस शून्य वातावरण की नग्नता का तिरोधान करना।

(३)

इसी बीच आ गया यह रघुनाथ।

वह बाहरी बैठक में रहता और काम पूरा होने पर चला जाता। पहले रघुनाथ घर के अन्दर पैर नहीं रखता था। किन्तु दस दिन के बाद ही गिरधारी ने पुष्पा से कह दिया—"यह रघुनाथ

तुम्हारे लिए ग़ैर नहीं हो सकता। यह मेरा छोटा भाई है। रघुनाथ अपनी भाभी के चरण छूकर मेरी इस बात को प्रमाणित करो।"

रघुनाथ उठा। पुष्पा ने एक बार आँख उठाकर उसकी ओर देखा। क्षण-भर का भी विलम्ब किये बिना वह बोल उठी—"अच्छा, अच्छा, खुश रहो। बैठो। पैर छूने की ज़रूरत नहीं है।"

उस समय पुष्पा के मुख पर उल्लास एक बार कम्पित हो उठा था। उसकी वाणी में वेग तो था, किन्तु विदग्धता नहीं थी। विभाव था, किन्तु निरोधहीन, विमुक्त।

अब गिरधारी का अन्त:पुर रघुनाथ की अपनी सीमा थी। पहले वह उसके घर में उसी समय आता था. जब गिरधारी उपस्थित रहता था। अब ऐसा कोई बन्धन नहीं था।

कुछ दिनों के बाद गिरधारी के मन में आया—मनुष्य देवता नहीं बन सकता। उसने यह भी सोचा—देवत्व मनुष्यता से परे कोई वस्तु नहीं। पुष्पा पर वह विश्वास करता था। और उससे भी अधिक वह विश्वास करता था रघुनाथ पर। दोनों पर उसका विश्वास अब भी पूर्ववत् स्थिर था. किन्तु अविश्वास उसे था, तो अपने आप पर। एक दिन जिस गिरधारी ने पुष्पा से कहा था—रघुनाथ मेरा भाई है। आज उसी को कहना पड़ा—रघुनाथ का मेरी अनुपस्थिति में तुमसे मिलना-जुलना मुझे अब स्वीकार नहीं है!'

उस समय पुष्पा की मुद्रा पर वह ज्योति न थी, जो उच्छिन्न होना नहीं जानती। उद्ध्वस्त मन का उत्घात उस पर खेल रहा था। उसने पूछा था—'आज तुम्हारे लिए वह शत्रु है?'

(४)

गिरधारी के जीवन में यह पहला दिन था, जब उसने पुष्पा के कथन में ऐसी तीव्रता, वाणी में ऐसा प्रतिघात और रूप में इतनी अपरूपता का अनुभव किया था। शान्त रह कर बड़ी देर तक वह विचार करता रहा था। न उसने पुष्पा से कोई बात की थी, न पुष्पा ही उसके निकट आकर बोली। गिरधारी ने घर से बाहर आकर, मित्रों के साथ, अपना वह छुट्टी का दिन व्यतीत कर दिया, और पुष्पा ने उपवास करके।

किन्तु रघुनाथ को गिरधारी की इस मनःस्थिति का कुछ पता न था। एक निश्चित गति से वह चल रहा था। सरोवर का-सा शान्त जल था वह। वायु के झकोरे उस पर लगते थे, तरंगें भी उठती थीं, किन्तु उनमें वैसा कोई फैला हुआ. व्यापक उत्क्षेप नहीं था, उत्पात नहीं था।

रात को ग्यारह बजे आकर गिरधारी चुपचाप लेट रहा था। उसकी आँखों में नींद नहीं थी। कमरे की रोशनी उसने बुझा दी। निकट के नीम के वृक्ष से उत्थित पवन के झकोरों तथा पत्तियों का मर्मर शब्द वातायन से आ रहा था। सुदूर-व्यापी कर्कश श्वान-स्वर भी कभी-कभी उसके कानों में आ पड़ता। अँधेरी रात्रि की सारी कालिमा उस समय उसकी दृष्टि के आगे मूर्तिमान हो उठी। भयानक संकल्प विकल्प उस समय उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे थे। जब लेटे रहना उसके लिए दुष्कर हो उठता, तो वह झट से उठ बैठता और उसी घने अन्धकार में, कमरे में टहलने लगता। उसने आज भोजन नहीं किया था। मेरे यहाँ केवल चाय पी थी। पान भी दस-पाँच बीड़े खाये थे। पर भूख की रुक्षता, शरीर को

शिथिलता और सिर की पीड़ा का उसे भान नहीं था। दाँत पीसने का किटकिट शब्द, गला, भौंहों और मस्तक की नसों का तनाव उसके मन में आये काले-काले संकल्पों के अट्टहास के साथ योग दे रहा था।

गिरधारी ने चाहा कि वह देखे, पुष्पा क्या कर रही है? सम्भव है वह रघुनाथ के साथ हमबिस्तर हो! एक चमकता हुआ छुरा उसने जेब से निकालकर अपने हाथ में ले लिया। उस क्षण उसका हाथ काँप गया, हृदय धक्-धक् कर उठा। उसने सोचा—वह यह कर क्या रहा है, आखिर उसका इरादा क्या है? उसे पता चला, जैसे उसने पुकारा हो—पुष्पा! पुष्पा! पर वास्तव में उसने पुकारा नहीं था उसे। केवल उसे ऐसा भान हो रहा था।

अब गिरधारी ने बिजली का बटन दबा दिया। रोशनी कमरे भर में फैल गयी। पहले उसकी दृष्टि गयी घड़ी पर।—'ओः वह बन्द हो गयी है! कई दिन से उसे इसका भी ध्यान नहीं था। खैर यह घड़ी बन्द रहने के ही योग्य है! इसे चलाना व्यर्थ है।'

वह चुपचाप मकान के उस कमरे की ओर जा पहुँचा, जहाँ पुष्पा लेटी हुई थी। वहाँ रोशनी नहीं थी। गिरधारी के मन में आया—यहाँ भी अँधेरा है! लेकिन यहाँ अँधेरा क्यों है? यहाँ तो अँधेरा नहीं होना चाहिए। गिरधारी का अन्धकार यदि पुष्पा के लिए भी काला ही है, तो ?

"नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"—गिरधारी सोचने लगा। बिजली का बटन दबाकर उसने देखा—पुष्पा सो रही है—सचमुच सो रही है? अब छुरे को उसने खूब मज़बूती के साथ पकड़ लिया। 'किन्तु...।' उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ।

—"क्या पुष्पा...?"

उसने पुष्पा को और निकट से देखा। छुरा उसके हाथ से छूटकर फ़र्श पर गिर कर कट् से बोल उठा।

... ...

पोस्टमार्टम से पता चला—उसने ज़हर खाया था और उसके चार महीने का गर्भ था।

दूसरे दिन, ग्यारह बजे रात के समय, अचानक आ पहुँचा रघुनाथ। उसने क्या कहा, वह क्या कहता रहा, थोड़ी देर तक—गिरधारी कुछ समझ न सका। उसे केवल इतना याद रह गया—वह उसे बधाई देने आया था।

उस समय गिरधारी को ख्याल आ गया—एक दिन उसने किसी से कहा था (मुझसे ?) रघुनाथ चला जायगा या पागल हो जायगा। उसने सोचा, बस यही बात है—रघुनाथ पागल हो गया है !

कल्याणी

एक नाव पर तीन व्यक्ति आसीन हैं। पहला व्यक्ति अधेड़ है। उसकी दाढ़ी बढ़ी हुई है और केशों में जटायें पड़ गई हैं। वह काषाय वस्त्र धारण किये हुए है। वह साधु है। दूसरा व्यक्ति धोती की जगह लुँगी, बदन पर चारख़ाने की क़मीज़ और उस के ऊपर काली इटैलियन का वेस्टकोट पहने है। उसके सिर के बाल कुछ बेढँगे तौर से बिखरे हुए हैं। उसकी आँखें लाल हैं और मुँह से ठर्रे की बू आ रही है। वह एक डाकू है और सात वर्ष की सज़ा काट कर लौटा है। तीसरी एक स्त्री है। उसके वस्त्र भीगे हुए हैं। वह करवट लिये चुपचाप लेटी हुई है और उस के मुँह से पानी के साथ-साथ लार बह रही है।

साधु मन-ही-मन कुछ सोच रहा है। वह अपने अतीत को देखता है, तो उसे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वह अपने पीछे एक लम्बा, घना और जटिल इतिहास छोड़ आया है। कुछ चीज़ें उसे याद आती हैं, कुछ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गई हैं और ऐसा जान पड़ता है, मानो वे घुलकर, मिटकर, उजली पड़ती हुई गंगा की रेणु की भाँति ठंडी, शान्त, चिरशांत और मूक हो गई हों।

डाकू बीड़ी पी रहा है। उसकी दृष्टि कभी साधु पर जा भटकती है, कभी उस स्त्री पर, जो मृत्यु के गले में बाहें डाले हुए स्थिर पड़ी हुई है; पर जिसकी साँस अभी जीवन के लाल पंजे से मुक्त नहीं हो सकी है।

साधु ने यकायक अपने सिर पर हाथ रक्खा, फिर उसे मस्तक और मुँह पर फेरा। इसके बाद अपनी दाढ़ी के भीतर अँगुली डालकर उसके सूखे उलझे बालों को जैसे सुलझाता हुआ वह कहने लगा—"तो तुम सोचते होगे, तुम ने यह बहुत बड़े पुण्य का काम किया है। क्यों ?

कहकर वह चुप हो गया फिर थोड़ा ठहर कर बोल उठा—लेकिन तुम ने यह नहीं सोचा कि अपनी एक मात्र संतान जवान बेटी को पहचान कर, उसको डूबता हुआ देख कर .भी उसे न बचा कर एक तरह से उस की हत्या करना कितना बड़ा पातक है ?

इस बार डाकू हँसा। क्षुद्रता के भाव से उसका निचला होंठ थोड़ा आगे बढ़कर फैल गया। बीड़ी धारा पर फेंक कर वह बोल उठा—ज़िन्दगी में ऐसे कितने पातक किये बैठा हूँ, गिनाने बैठूँ तो पापों की वह गठरी खुलकर—बिखरकर—जानते हैं आप को किस नज़र से देखेगी और क्या जवाब देगी ?

साधु पहले तो सन्न रह गया, किन्तु फिर सावधान होकर बोला—मुझे कुछ बुरा नहीं लगेगा। तुम जो चाहो, कह सकते हो।

डाकू साधु के इस उत्तर से ज़रा भी विचलित नहीं हुआ। वह बोला—वह कहेगी, साधु हो जाने पर भी वह मूर्ख ही बना रहा।

साधु के मुख पर हास्य की रेखायें दौड़ गईं। उसने नाविक की ओर देखा कि उसके श्याम नग्न स्कन्ध और बाहु पसीने से चमक रहे हैं।। तब वह बोला—अब नौका मत खेओ बन्धु।

चिन्ता नहीं, देर हो जाय। लंगर डाल दो और थोड़ा आराम कर लो।

साधु की अँगुली अब भी दाढ़ी के बालों से उलझी हुई थी। डाकू की ओर देखते हुए उस ने कहा—साधु को मूर्खों से भी प्रेम करना होता है, बन्धु। उसके लिए घृणा निषिद्ध है। तुम बुद्धि में बृहस्पति के समान उदित होओ, तुम्हारे लिए यह मेरा आशीर्वाद है। लेकिन यह तुम ने नहीं बतलाया कि आखिर माँ का अपराध क्या था!

डाकू सोचने लगा, यदि वह चाहता, तो तैरकर निश्चय ही अपनी इस युवती कन्या को बचा सकता था।

नौका जहाँ की तहाँ स्थिर है और नाविक का मन शांत है।

स्त्री ने यकायक करवट बदली। उस का दायाँ हाथ नाव के कठोर तख्ते पर कुछ ज़ोर से जा गिरा। हथेली पर मेहँदी की लाल-लाल बुँदकियाँ खिल उठीं। उसके कठोर उभरे हुए स्तनों का तनाव कंचुकी को फाड़ कर भीगी महीन साड़ी के भीतर से झलक उठा। उसके मुख की सोई छवि जैसे स्वप्नावेश से मुखरित हो उठी।

डाकू ने फिर दूसरी बीड़ी सुलगाई। एक साथ कई कश लेकर वह बोला—इसने अपने पिता के साथ विश्वासघात किया। जब इसका पति लेने नहीं आया, तो कुछ ही वर्षों बाद प्रतीक्षा और साधना का जीवन न अपनाकर यह किसी दूसरे के साथ भाग गई। फिर उसके यहाँ भी जब इसका निर्वाह न हुआ, तो उसने अपने शरीर का ही व्यवसाय शुरू कर दिया। चाहे यह चोरी करती—डाका डालती। यह और चाहे जो करती। पर इसने

तो हमारी जाति के नाम पर बट्टा लगाया। यदि और कुछ नहीं कर सकती थी, तो क्या ज़हर खाकर मर जाना भी इसके लिए मुशकिल था ?

साधु ने डाकू की बात सुनकर नाविक की ओर देखा। देखा उसकी आँखें झपक रही हैं। तब वह बोला—सोओ मत, बन्धु, हमको बहुत दूर जाना है। लंगर उठा लो। अब हमें चला ही चलना है।

नाविक के बाद अबकी बार उसने उस स्त्री के सिर की ओर झुक कर उसके मुख को ध्यान से देखा। अब उसकी हृद्गति कुछ तीव्र हो रही थी। तत्काल ही उसका हाथ अब उसके भीगे सिर पर जा पड़ा और उसने अपने उत्तरीय से उसके भीगे केश पोंछ डाले। उसने उसके मस्तक पर हाथ फेरा और उसके मुँह से निकल गया—तुम को अभी जीना है, शक्ति माता! तुम्हें अभी सजग होना है। तुम हम को जिलाने के लिए पैदा होती हो। तुम्हारे मरने का कोई काम नहीं है।

डाकू साधु की चमकती आँखों को देख रहा था। कभी-कभी उसका समस्त शरीर जैसे कम्पित हो उठता था।

नाविक तेज़ी से नाव खेये जा रहा था।

साधु कहने लगा—इस पृथ्वी पर सब का अधिकार है, बन्धु। यहाँ पापी भी जीने के लिए हैं। लेकिन तुमने यह नहीं बतलाया कि इसके पति ने क्यों इसका त्याग किया था!

कथन के पश्चात् साधु की दृष्टि गंगा की धारा पर जा पड़ी। अब सूर्य्य-अस्त हो गया है। रात घनीभूत हो रही है। फिर उस ने एक बार क्षितिज की ओर देखा। देखा, सभी कुछ

एक-रस है। किनारा और किनारे का गाँव, धारा और उसका विस्तार, सभी समवर्ण है। आकाश तो शून्य है ही, जगत का शब्द तक शून्य है। हाँ, दूर—बड़ी दूर—कहीं कहीं कुत्तों के भूकने का स्वर सुनाई दे जाता है।

डाकू कह रहा है—उन दिनों मैं घर ही पर था। इसके पति ने किसी बात पर नाराज़ होकर इसके पेट पर लात मार दी थी। उन दिनों इसके पेट में बच्चा था।

साधु ने भावावेश में अविलम्ब कह दिया—वह हत्यारा था। उसका अपराध क्षमा करने योग्य नहीं। अगर तुमको कभी उसका पता चल जाय, तो तुम उसे ··· ।

एक बार यह भी उसके मन में आया, यदि नहाते हुए उसकी दृष्टि यकायक उस ओर न जाती, यदि वह तुरन्त तैरता हुआ उसे न बचा लेता···।

एक आँसू उसकी एक आँख से गिर पड़ा। उसका वाक्य अधूरा छूट गया और उसे स्मरण आगया वह दिन, जब एक संस्था के अधिकारी ने उसके सम्बन्ध की अप्राकृतिक पतन-गाथा जान-सुनकर उस से कहा था काला मुँह कर जा यहाँ से, पापी, नीच, नाली के कीड़े। ईश्वर को डरता हूँ; नहीं तो, तेरी बोटी-बोटी कटवाकर नदी में फिकवा देता।

और एक गम्भीर, शान्त तथा स्थिर स्वर में वह बोल उठा-- नहीं, तब भी तुम उसे क्षमा कर देना, बन्धु! क्षमा से बढ़कर दूसरा दंड नहीं है। मनुष्य अपने अपराध का दँड प्रकृति से पा लेता है। शासन-व्यवस्था यदि उसे दंड न दे, तो समाज-प्रकृति उसे दंड देती है। उस समय आत्म-ग्लानि का दंड तुम्हें भोगना

ही पड़ता है। अपने पैर में कुल्हाड़ी मारने का दंड कोई दूसरे थोड़े ही देता है। पर जिस व्यक्ति को इतना भी ज्ञान नहीं कि कोई आत्मीय हो या अपने समाज का प्राणी, मानवता के नाते, उसकी हानि अन्त को है तो अपनी ही हानि, वह असल में मनुष्य ही नहीं है। वह पशु है।...पर तुम ने यह नहीं बतलाया बन्धु कि इस नारी का पति इसकी किस बात पर इससे नाराज़ हुआ था ?

डाकू ने लक्ष किया, इस बार साधु ने उसकी कन्या को माँ सम्बोधन नहीं किया। उस ने झट से एक बीड़ी निकाली और साधु को देते हुए कहा—'ज़रा तुम भी पीकर देखो, महात्मा!" दूसरी उसने अपने दाँतों से दबा ली।

साधु ने कहा—क्षमा कर दो, बन्धु। संसार की ज्वाला की आँच ही ऐसी कौन कम है, जो इस कृत्रिम आग से अपने को तपाने की चेष्टा करूँ!

तदनन्तर उसकी दृष्टि उस स्त्री पर जा पड़ी। नाविक ने फ़र्श के तख़्तों के नीचे से लालटेन निकाल कर, जलाकर सामने रख दी। कुछ ऐसा जान पड़ा, जैसे वह स्त्री कुछ बुदबुदा रही है। साधु ने लक्ष किया, उसके होंठ हिल रहे हैं। उसने उसका हाथ थामकर नब्ज़ देखने की चेष्टा की। तत्काल उसके मुँह से निकल गया—विश्व को अपने भाग का कर्तव्य चुकाओ कल्याणी। तुमको जीना है। तुमको उठना है, तुमको मनुष्य जाति को मार्ग दिखाना है।

कथन के पश्चात साधु ने एक निःश्वास ली। डाकू कुछ सोचने लगा। उसे साधु के इस नये सम्बोधन पर आश्चर्य हो रहा था। वह बार-बार साधु को देखता था। परन्तु वह कुछ स्थिर न कर पाता था।

वह बोला—सुनते हैं, इसका अपराध यह था कि यह प्रायः सभी से हँस-हँस कर बातें करती थी। और स्वामी को इसकी यह बात पसन्द न थी। वह शायद इस पर अविश्वास करने लगा था।

अविलम्ब साधु के मुँह से निकल गया—वह नराधम था, बन्धु। उसका मुख देखना भी पाप है। इस समय फिर उसकी आँखों में जल छलछला आया। कुछ स्थिर होकर वह बोला—… लेकिन नहीं, तुम उसे क्षमा ही कर देना, बन्धु। प्रकृति ने उसे दंड दे लिया होगा।

कथन के बाद उसने आकाश की ओर देखा। देखा, अन्धकार-ही-अन्धकार चारों ओर फैला हुआ है। किन्तु कुछ दूर पर एक ओर उसे ऐसा भी जान पड़ा, जहाँ अनन्त दीपक जल रहे थे। उसने नाविक की ओर देखते हुए कहा—उधर वह रोशनी कहाँ हो रही है?

नाविक मुसकराने लगा। वह बोला—आप इतना भी नहीं जानते, महात्मा जी!

निःश्वास लेते हुए साधु बोला—संन्यासी का ज्ञान खो गया है। उसका ध्यान खो गया है। वह भ्रम में पड़ गया है। वह कहाँ जा रहा है, यह भी नहीं जानता। वह कैसे कहे कि यह दीपमालिका है?

उसकी दृष्टि फिर उस रमणी की ओर आकृष्ट हो गई! वह आँखें खोल चुकी थी। कराहते हुए उसने कहा—आह! मैं कहाँ हूँ?…बड़ा दर्द है।

डाकू को पुत्री पर मोह उत्पन्न हो गया था! लेकिन वह कुछ

स्थिर नहीं कर पाता था। कभी कभी वह धारा की ओर कुछ खोजने लगता था।

हर्षातिरेक से साधु ने पूछा—कहाँ बन्धु ? कहाँ दर्द है ?··· तुम नाव पर हो, तुम्हारा जीवन सुरक्षित है।

डाकू सोचने लगा—इस महात्मा को हो क्या गया है ! वह इस युवती को भी बन्धु कह कर पुकारता है। लेकिन ऐसा जान पड़ा, जैसे वह अब तक कुछ स्थिर नहीं कर पाया है।

युवती उसका हाथ अपने हाथ में लेकर उसे अपने पेट के पास ले गई और बोली—यहाँ···यहाँ। आँतें जैसे फटी जा रहीं हैं।

तत्काल साधु बोल उठा—मेरे पास दवा है। मैं दवा देता हूँ। तुम थोड़ी हिम्मत बाँधो मित्र ! तत्काल उसने झोली से एक बूटी निकाली और टेकनी से उसे कुचलकर उस युवती को खिला दी।

किन्तु इसी क्षण यकायक डाकू कुछ तीव्र और कम्पित स्वर में कहने लगा—मैंने कल्याणी और उसके स्वामी (आप को) क्षमा कर दिया है, महात्मा जी। लेकिन मैं अपने को क्षमा नहीं कर सकता।

और यकायक वह उछला और उस अगाध जल में, उस निविड़ अन्धकार में, झम्म से कूद पड़ा। नाव एकाएक ज़ोर से हिली और धीरे-धीरे सम्हल गई। कई एक भयानक हिलकोरे आये और क्रमशः मन्द पड़ गये। पानी के बुलबुले उठे और शान्त हो गये।

निकट तक न लाने देने के अभिप्राय से मैंने उसी क्षण कह दिया कि अपनी दिदिया से जाकर कह दो— उनके आदेश का ख़याल करके मैं अभी तुरन्त यहाँ से चला जाता हूँ।

किरण तब अत्यधिक गंभीर हो गई, मैंने लक्ष किया कि यदि मैं इतना कहने के पश्चात् वास्तव में तुरंत चल ही दूँ, तो उसी क्षण उसकी आँखें भर आएँगी। कुछ क्षणों तक, नमित दृष्टि से, सकुचाई हुई, वह मौन भाव से, ज्यों-की-त्यों, खड़ी रही, और मैं बराबर यही सोचता रहा कि अब यह कहने ही वाली है कि इतनी जल्दी आप न जायँ। किंतु प्रकट रूप से उसने मुझसे किसी प्रकार का कोई आग्रह नहीं किया, यद्यपि आज मैं सोचता हूँ कि उसके एक बार के भी आग्रह को मैं किसी तरह टाल नहीं सकता था, किंतु उस समय न तो उसकी अंतरात्मा की पुकार को ही मैं समझ सका, न उसके भाव-गर्वित उस मूर्तित मौन को। अगर कुछ समझ सका, तो केवल यह कि वह नहीं चाहती कि मैं इसी तरह से चला जाऊँ। इसके सिवाय मुझे यह भी प्रतीत हुआ कि प्रभा की बात को यथार्थ परुष रूप में कह देने के कारण उसे बड़ा खेद हो रहा है। किंतु यह विचार भी एक क्षण से अधिक मेरे अंतःकरण में टिक न सका, और फलतः मैं उठकर चल दिया।

वास्तव में उस समय मैं अत्यधिक भावोद्रेक में था। मैं नहीं जानता था कि जो पथ मैं ग्रहण कर रहा हूँ, वह मेरे लिये किसी प्रकार प्रशस्त नहीं हो सकता। मेरे सामने तो प्रभा के इस व्यवहार की प्रतिक्रिया-मात्र थी। मैं तो येन-केन-प्रकारेण उसे प्रतिहत करना चाहता था।

चलते हुए मैं केवल यही सोचता था—माना, तुम एक

सौभाग्यशाली नारी हो, तो क्या तुम किसी अभागे, संतप्त व्यक्ति का इस भाँति अपमान करोगी ? माना, तुम्हारे अमित वैभव के राज्य में कोई भी व्यक्ति पेट की ज्वाला से अपने आपको ताप-दग्ध कर-कर के अनुताप शमन नहीं कर सकता। माना कि तुम पवित्रता की प्रतिमा हो, और आदर्श तुम्हारी ही मुट्ठी में बंद रहकर प्रत्येक पग-चालन प्राप्त करता है, तो भी क्या यह उचित है कि किसी भ्रमित पथिक को सुमार्ग-प्रदर्शन के मोह में डालकर, तुम धक्का देकर अग्रसर करने का दुःसाहस कर सको !

मैं चला ही आया। मेरे पैर आगे पड़ते गए। मैंने फिर पीछे फिरकर उस घर की ओर क्या उस मुहल्ले तक की ओर नहीं देखा। मेरे सामने तो केवल एक बात थी, और वह बस इतनी-सी कि मुझे चला जाना है, जिस तरह भी हो सके, चला ही जाना है।

× × ×

तुम बड़े भले आदमी हो। तुम्हारा मुँह भी बड़ा खूबसूरत है। तुम पूछते हो कि प्रभा से तुम क्या संबंध रखते हो ! खूब रही !! अच्छा, तुम्हीं बतलाओ, प्रभा तुम्हारी कौन होती है ?

अच्छा ! बड़े गर्व से तुम कह रहे हो—धर्म-पत्नी !

हाँ-हाँ तुमने अपने बड़े-से-बड़े नाते और अधिकार अस्त्र और अनुशासन, वैभव और बड़प्पन का परिचय दे डाला। बधाइयाँ ! लेकिन भाई-जान, ज़रा मुझे समझा तो दो कि प्रभा ने जीवन के किस क्षण में यह अनुभव किया है कि तुम उसके स्वामी हो ! ज़रा बतलाओ तो सही कि स्वामित्व की कौन

सी ऐसी स्थिति है, जिसके तुम अधिकारी बन सके हो? क्या तुम उसके हृदय के साथ अपने हृदय के अणु-अणु का मिलन कर सके हो। क्या तुम्हारे प्यार और उत्सर्ग का क्षेत्र कभी इतना विस्तृत हुआ कि वह क्षण-भर को भी एक सुखनिंदिया ले सकती? अपनी आत्मा के एकांत क्रोड़ में निमेष-मात्र को भी क्या तुम उसे सुला सके? क्या तुमने कभी यह समझने की चेष्टा की कि शरीर का रक्त-मांस, उसका हृत्पिंड, उसके प्राण का प्रत्येक स्पंदन विश्व-प्रकृति की किस प्रेरणा से अनुप्राणित होता है?

तुम चुप हो; क्योंकि तुम्हारे पास इन बातों के उत्तर में केवल एक बेहूदी बेशरमी है। हाँ, यह भी मैं मानता हूँ कि दाँत निकालकर हँस देने में भी तुम अपना मनुष्यत्व प्रतिपादित करना सीख गये हो! किंतु मैं कहता हूँ--मैं तुम्हें सावधान कर देना चाहता हूँ कि तुम सम्हल जाओ, सावधान हो जाओ। तुमने उस मनुष्यत्व का अपमान किया है, जो इस अखिल सृष्टि के कल-निनाद का एकमात्र प्रेरक अक्षय तत्व है। तुमने प्रभा पर संदेह किया, उसके कमनीय, कलेवर पर बेतों की वर्षा की, उसका लहू बहाया, और उस किरण को भी अपमानित किया, जो दुग्ध की भाँति उज्ज्वल, ओस-कण की भाँति निरी द्रष्टव्य और तीर्थ-रेणु की भाँति वंदनीय है! ...पशु कहीं के!

ऐं! क्या कहा!! मैं लंपट हूँ, मेरी बातों में वासना की बू आती है!

उत्तर में मैं तुम्हें कोई सफ़ाई नहीं देना चाहता। मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे आगे अपनी कोई तसवीर खड़ी करूँ। मैं तुम्हारी प्रशंसा का भिखारी नहीं हूँ। किंतु नहीं, मैं तुमसे कुछ

छिपाना भी नहीं चाहता। मैं नहीं चाहता कि अपने अभिमान के मद में तुम्हारे सामने मैं अपनी स्थिति तक न साफ़ करूँ। किसी को भ्रम में रखना अच्छा नहीं होता। अक्सर लोगों में गलतफ़हमी हो जाती है। कुछ लोग इस प्रकृति के होते हैं कि ग़लती नहीं करते, मगर चूँकि आरोप उन्हीं पर लद जाता है, इसलिये झुँझला उठते हैं—ज़िद में आकर अपनी सफ़ाई तक देना उन्हें स्वीकार नहीं होता। मै मानता हूँ, मुझमें यह बुरी आदत रही है, लेकिन अब मैं ऐसी ग़लती न करूँगा।

मैं मानता हूँ, सचमुच प्रभा मेरी कोई नहीं है। लेकिन खेद के साथ मुझे यह भी बतला देना पड़ेगा कि अगर मैं चाहता, तो प्रभा मेरी हो सकती थी। बस, यही एक भावोद्वेलन मेरे हृदय में आज बीस वर्ष से रहा है। मैं आदर्श प्रेमी नहीं हूँ, क्योंकि घुल-घुलकर मृत्यु के घाट उतरने-जैसा चरम त्याग मेरे लिये संभव नहीं हो सका। किंतु अपने उस स्वरूप का परिचय मैं कैसे दूँ कि किसी एक हृदय का नहीं, तृण तक का उत्सर्ग मुझे कभी-कभी कितना प्रभावित कर डालता है। बहुत दिनों की बात है, प्रभा के एक उपहार ने मेरी जीवन-सरिता की प्रशांत जल-धारा को अतिशय क्षुब्ध कर डाला था। वह उसका आत्मसमर्पण था। अपनी यथार्थ स्थिति का परिचय उसने अपने एक पत्र में दिया था। मेरे पास वह पत्र अब तक सुरक्षित है। पर मैं उसे तुम्हें दिखला नहीं सकता। उसके साथ एक पवित्रात्मा का इतिहास है। तुम्हारे हाथ में देकर मैं उसका अपमान नहीं करना चाहता। मैं जानता हूँ, अवसर आने पर तुम उसकी बातें लेकर प्रभा का उपहास कर सकते हो। आह ! तुम क्या जान सकोगे कि प्रभा

किस कोटि की रानी है? तुम तो स्त्री को ख़रीदा हुआ जानवर समझते हो!

उस समय तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था। उसकी बात चीत भी नहीं चली थी। उसी समय मैंने प्रभा को देखा था। एक-आध बार उससे मेरी कुछ बातचीत भी हुई थी। इसके बाद ही मेरे माता-पिता के पास इसी संबंध का एक संदेश आया था। पिताजी सहमत थे, किंतु अम्मा ने मुँह बिचकाकर कह डाला था—मेरा सुरेश इस तरह मुफ्त में ठगाया नहीं जा सकता। व्यवहार का काम तो व्यवहार ही से चलता है। रुपए की जगह, सभी अवसरों पर, कोरी आत्मीयता काम नहीं देती'।

मैं चाहता, तो अम्मा की बात का तीव्र विरोध कर सकता था। किंतु मैंने जान-बूझकर ऐसा नहीं किया। इसका कारण है। बात यह है कि मैं यह मानता हूँ कि प्रत्येक माता-पिता की, अपने बच्चों के लिये, कुछ-न कुछ विशेष गौरव-पूर्ण साध होती है, क्योंकि वे उनके लिये अपने जीवन की प्यारी-से-प्यारी इच्छाओं का उत्सर्ग करते हैं। और, मैं जानता था, अम्मा ने मेरी पढ़ाई में अपने अनेक आभूषण तक बेच डाले हैं, इसीलिये मैं चुप रह गया।

मैं सिर्फ़ चुप ही नहीं रह गया, वरन् मैंने अपनी अभिलाषा के संकेतों तक को स्पष्ट नहीं होने दिया।

उसके बाद फिर यह आज का दिन है। कितने वर्ष बीत गए, कुछ पता भी है तुम्हें! लेकिन, कभी किसी से भी, मैंने अपनी अभिलाषा को प्रकट नहीं किया। मैं सदा से ही बड़ा अभिमानी

रहा हूँ। मैंने सोच लिया था कि चाहे जो कुछ हो, अपने इस विषाद को कभी खुलने न दूँगा। मैं समझता था, यह निरी अपनी ही बात है, अपने ही वश की है। इसे भूल जाने में क्या लगेगा? किंतु जीवन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ाता गया, बराबर मैं यही अनुभव करता गया कि यह तो जीवन-मरण की एक समस्या है। इसे भुलाया कैसे जा सकता है।

इसीलिए मैं तुम्हारे यहाँ गया था। मेरा उद्देश्य बुरा न था। मै तो सफ़ाई चाहता था। मैं चाहता था कि प्रभा से मेरी जिन वस्तुश्र (उपहारों) का आदान-प्रदान हुआ है, उन सबको हम लोग एक दूसरे से लौटाकर सदा के लिये निश्चिंत और निर्लेप हो जायँ। किंतु ऐसा कहाँ हो सका। उसने मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उसने कहा, ऐसा कैसे हो सकता है।

अच्छा, मै आपसे ही पूछना चाहता हूँ कि ऐसा क्यों नहीं हो सकता? देखो, चुप मत रहो, मेरी बातों का उत्तर देते चलो,...मैं तो बिलकुल तैयार होकर गया था। मेरे पास उसकी सभी चीज़ें सुरक्षित रूप से मौजूद थीं। मैं उन सबको उसके पास लेकर गया था। मैंने उसे उन सबको एक-एक करके दिखलाना शुरू किया, तो उसकी आँखें भर आईं। मैंने देखा, उसे अत्यधिक व्यथा पहुँचाना मेरा उद्देश्य नहीं हो सकता, तब मैने उन चीज़ों को दिखलाना बंद कर दिया। लेकिन इससे क्या? मुझे उन सब उपहारों को किसी तरह अपने पास नहीं रखना है। उन्हें मैं अपने पास रख ही कैसे सकता हूँ, मैं भला हूँ या बुरा। दो में से एक ही तो हूँ। क्योंकि यह तो एक प्रकार की

कायरता हुई। फिर जिन वस्तुओं ने मेरे जीवन को एकदम से नष्टप्राय कर डाला, उन्हें अपने पास रखकर मैं करूँगा क्या? जब प्रभा से मेरे जीवन का कोई संबंध नहीं है, तब उसकी भेंट की हुई वस्तुओं का मेरे साथ क्यों सम्बन्ध हो? न तो इसमें मैं कोई वैर-विरोध देखता हूँ, न कोई मनोमालिन्य। यह तो एक सिद्धांत की, एक दृढ़ता की, एक वीरता और पुरुषार्थ की बात है। इसके लिये तो हममें गर्व होना चाहिए।

अभिलाषाओं के मोह को मनुष्य अपने गले की फाँसी बनाकर क्यों रक्खे? इनसे यदि जीवन को स्फुरण या उल्लास नहीं मिलता, तो उनके संपर्क से मुक्त हो जाना ही श्रेयस्कर है। बतलाओ, ज़रा बतलाओ प्रकाश बाबू, मै इसमें क्या ग़लत कहता हूँ?

ओह! तुम अब भी चुप हो। इतनी बातें—खरी और खोटी, भली और बुरी, शांत और उत्तेजक—मैंने तुमसे कह डालीं, किंतु तुमने मेरी किसी बात का उत्तर नहीं दिया? बतलाओ, आखिर इस मौन-धारण का क्या अभिप्राय है?

तुम मेरी ओर बड़े ध्यान से देख रहे हो! क्या तुम मेरे शरीर को देखते हो? क्या आप समझते हैं कि मैं अत्यधिक दुर्बल हो गया हूँ, इसलिये तुम्हारी दया का पात्र हूँ? हँ-हँ, मैं इतना क्षुद्र नहीं हूँ मिस्टर प्रकाशचन्द! मैं मनुष्य हूँ, लौहस्तंभ हूँ, पाषाण-शिला हूँ। मैं इस विच्छेद को पी गया हूँ। मैंने इतना सहन किया है, तो आगे भी जो कुछ आएगा, सहन करूँगा। किंतु मैं मरूँगा नहीं, प्रकाश भाई, मैं मृत्युंजय हूँ।

मेरे शरीर में क्या तुम किसी प्रकार की उष्णता का अनुभव कर रहे हो ? किंतु वह तो अत्यधिक स्वस्थता की द्योतक है। प्रत्येक डाक्टर से मैंने यही कहा है कि यह कोई टेंपरेचर नहीं है। और, एक बड़ी विचित्र बात यह है मिस्टर प्रकाश कि डाक्टर लोग बड़े हैरान हैं। वे कहते हैं—इतना प्रोलांग करने का स्पष्ट अर्थ है जीवन। इस मर्ज का कोई मरीज़, मैं नहीं जानता, इतना प्रोलांग कभी कर सका है !

इसका कारण क्या है, जानते हो ? इसका कारण एकमात्र मेरा आत्मविश्वास है। इसीलिये मैं चाहता हूँ कि तुम मुझे थोड़ा-बहुत समझ सको। यह टेंपरेचर भी इस समय तुम मुझमें न पाते, यदि इस वक्त यहाँ तसरीफ़ न लाते, और उसका ऐसा संवाद न देते।

लेकिन ओह ! तुमने प्रभा को बेंतों से पीटा है, तुमने उस पर प्रहार किये हैं, उसे कुलटा कहा है, और साथ-ही-साथ तुमने किरण को गाली देकर उसका अपमान किया है, और तारीफ़ की बात यह है कि तुम खुद मेरे पास यह सब समाचार लेकर आए हो। तुम मुझे समझते क्या हो प्रकाश, आह ! मैं तुम्हें कैसे बतलाऊँ कि तुम्हारे ये प्रहार प्रभा पर नहीं, सुरेश, केवल सुरेश पर हुए हैं।

अच्छा, तो ज़रा ठहर जाओ। मैं थोड़ा स्वस्थ हो लूँ। कुछ दिनों से मैं थोड़ी पीने लगा हूँ। हाँ-हाँ भाई इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

हाँ, अब कहो, क्या कहते हो? ज़रा एस० पी० साहब से बात कर लूँ; उनसे कह दूँ कि इस समय मैं उनके यहाँ आ नहीं सकता, ज़रा-सा ठहर जाओ। मुझे सिर्फ़ उस कमरे में जाना पड़ेगा। बस सिर्फ़ तीन मिनट में। हाँ बस।

× × ×

आप आ गए। ओह! मुझे बड़ी खुशी हुई। हाँ साहब मुझे आप से सिर्फ़ दो बातें कहनी हैं। उसके बाद आप जो प्रश्न करेंगे, मैं उनका उत्तर दे सकूँगा। थोड़ी देर मैं होश में रह सकता हूँ।

बात यह है कि ये मेरे एक मित्र हैं। मित्र तो हैं, किंतु इन्होंने मेरे साथ एक शत्रुता का काम किया है। इनसे मेरी बड़ी घनिष्ठता रही है। किंतु मैं नहीं जानता था कि आह! आह! ज़हर! ज़हर!! बड़ी शून्यता आ रही है। इसी ने हाँ, इसी ने शरबत में मिलाकर........।

× × ×

क्या कहा? उसने......उसने मेरे सब उपहारों को नष्ट कर डाला था, गंगा में बहा दिया था। ओह! तुम यह क्या कह रहे हो!...आह! तब एस० पी० साहब, मेरी बात आप गलत समझें। मैं गलती पर था। असल में मैंने ही ज़हर पी लिया है।......हाँ-हाँ, मैंने ही खुद अपने आप खूब समझ-सोचकर!

———————

पागलपन

उन दिनों की बात कह रहा हूँ, जब मोहन दीनानाथ बाबू के यहाँ आया ही था।

सर्दी के दिन थे। भयंकर जाड़ा पड़ रहा था। पाला इतना अधिक पड़ा था कि सहस्रों बीघे खेती साफ़ हो गई थी। श्लेष्मा बुरी तरह से घरों में फैला हुआ था। सैकड़ों बच्चे निमोनिया के मुँह में समा गये थे। मोहन उन्हीं दिनों अपने गाँव से भागकर शहर आया था। तब वह निरा छोकरा था, सिर्फ़ पाँच सात वर्ष का। फटा, मैला, कीचड़ के रंग का, रुई-भरा एक मात्र कोट, चिथड़ों के रूप में उसके बदन पर इधर-उधर लटक रहा था। सर पर बाल बढ़े हुए थे। जिनसे तेल और मिट्टी की गहरी पुट के कारण दबी हुई दुर्गंध आ रही थी। प्रोफेसर दीनानाथ उन दिनों कालेज में नियुक्त ही हुए थे। यूनीवर्सिटी की परिधि लाँघ कर उन्होंने अभी हाल ही में संसार-प्रवेश किया था।

सायंकाल का समय था। कुछ बूँदा-बूँदी भी हो रही थी। दीनानाथ बाबू कुछ कम्बल खरीदने के लिए चाँदनी-चौक आये थे। कम्बल ख़रीद चुकने पर ज्योंही उन्होंने दूकान छोड़ी, त्योंही देखा—अरे! बूँदा-बूँदी होने लगी! झपट कर घर की ओर लौट पड़े। चावड़ी-बाज़ार की एक गली में उनका घर था। वे अभी दूकान से हटकर चावड़ी-बाज़ार की ओर घूमे ही थे कि मोहन

सामने आ गया और गिड़गिड़ा कर बोला—"बाबू एक पैसा! बड़ी भूख लगी है। (और वह पेट पर हाथ फेर कर उसके ख़ाली रूप को दिखाने लगा) आज ही गाँव से आया हूँ।"

दीनानाथ बाबू ने यह तो देखा कि एक छोकरा सामने आकर उनकी तीव्र गति के कारण फिर बगल की ओर पड़ गया, पर, वह यह न सुन सके कि उसने आगे कहा क्या। इधर मोहन ने भी अभी कुछ ही दिनों से माँगना प्रारम्भ किया था। उसने सोचा, ऐसे-ऐसे बाबू लोगों को भी वह छोड़ देगा, तो फिर उसे और कौन पैसा देगा? वह दीनानाथ बाबू के पीछे हो लिया। वह जैसे-जैसे आगे बढ़ते गये, वैसे-ही-वैसे वह भी उनके पीछे लगा हुआ चलता गया। उसे इस बात का पूरा भरोसा हो गया था कि उसकी मेहनत ख़ाली न जायगी।

इतने में बाबू साहब का मकान आ गया। बाहरी बैठक में पहुंच कर एक कुर्सी पर वह बैठ गये और झट से नौकर को बुलाने लगे—"अरे धनियाँ, ज़रा इधर तो आना।"

धनियाँ तुरन्त दीनानाथ बाबू के सामने आ खड़ा हुआ और बाबू साहब ने दोनों कम्बल उसे देकर कहा—"अम्मा को दे आओ।"

(२)

"अरे! तू यहाँ तक पीछा किये हुए चला ही आया!" छोकरे की ओर देखकर दीनानाथ बाबू ने उसके इस दुस्साहस पर ज़रा-सा मुस्करा दिया। उनकी इस मुस्कराहट में विस्मय था, करुणा थी और उस छोकरे के पीछे पड़ जाने के इस प्रयास पर कुछ कुतूहल भी था।

मोहन हाथ जोड़ कर, दीनानाथ बाबू के चमकते हुए जूतों के नीचे का फ़र्श छूते हुए उसे अपने मस्तक पर लगा कर कहने लगा—"बाबू साहब, बड़ा भूखा हूँ। आज ही अपने गाँव से आया हूँ। एक पैसा !—बस एक पैसा।"

आश्चर्य, दुःख और दया से प्रेरित होकर प्रोफ़ेसर साहब ने पूछा—"आज ही गाँव से आया है! अच्छा तो वहाँ से क्यों आया ?"

ये छोकरे गाँवों से भागकर शहरों को क्यों चले आते हैं, क्या बाबू दीनानाथ यह जानते नहीं ? जब पेट में आग लगती है, और उसको बुझाने लायक तरल पदार्थ उसमें नहीं पहुँचता, तब वह चंचलता जो मनुष्य जीवन की प्राण है, विद्रोह कर बैठती है। गाँव उजड़ रहे हैं और शहर बस रहे हैं, क्यों ? क्यों कि गाँवों के ग़रीब किसान और उनके बच्चे पनप नहीं पाते। शहर में आकर उनकी आँखें खुल जाती हैं। मज़दूरी करके वे किसी तरह पेट-भर भोजन तो पा जाते हैं। इसके सिवा अवकाश के समय में इधर-उधर घूमते फिरते हैं—तमाशा देखते हैं।

हाँ, साहब, तो दीनानाथ बाबू के प्रश्न से मोहन को कुछ संतोष हुआ। उसके मन में आया, बस अब काम बन गया। उत्साहित होकर उसने कहा—"जी, माँ बाप नहीं हैं। मैंने उन्हें देखा भी नहीं। गाँव में जहाँ-तहाँ माँग-मूँग कर पेट भर लेता था, कभी-कभी वहीं कुछ काम मिल जाता, तो उसे कर देता था। पर, इधर उससे पेट नहीं भरता। इसीलिए, यहाँ चला आया हूँ।"

"तो तूने अभी तक कुछ खाया नहीं है ?"

"जी, खाया क्यों नहीं ! सुबह के वक्त पाँच पैसे पा गया

था। चार पैसे की पाव भर जलेबी ली, एक पैसे की लैया। फिर इधर-उधर तमाशा देखता रहा। अब भूख लग आई, तो फिर माँगने लगा।"

"तेरी जाति क्या है ?"

"जी, मैं जाति का जाट हूँ, जाट।"

"खाना तो मैं तुझे अभी खिलाए देता हूँ। पर...हाँ, यह तो बता कि गाँव से आया कब था ?"

"जी, मैं कल आया था।"

"सोया कहाँ रात को ?"

"जी, एक 'धरमशाला' के आगे पड़ा रहा, एक साधु की धूनी की गरम आँच के पास।"

"साधु की धूनी के पास ! और जो वह न होता तो !"

"तब फिर देखा जाता। भगवान जैसे रक्खेंगे, वैसे ही तो रहना पड़ेगा।"

दीनानाथ मोहन के मुख की ओर ध्यान से देखने लगा।

(३)

अब मोहन दीनानाथ बाबू के पास रहने लगा है।

गर्मियों के दिन हैं। दीनानाथ बाबू अपने मकान पर, कानपुर जिले के एक गाँव में, आये हुए हैं। साथ में उनका परिवार भी है।

बाग़ों में आम और जामुन के पेड़ लदे पड़े हैं। बड़े-बड़े कलमी आमों के बोझ से लदी हुई डालियाँ ज़मीन की ओर इतनी

झुक गई हैं कि खड़े-ही-खड़े, पके या गदराने जैसे भी चाहो, आम तोड़ लो।

दीनानाथ बाबू के पिता बड़े शौक़ीन आदमी थे। उन्होंने फलों के पेड़ों, फूलों और तरकारियों के लिए अलग-अलग बाग़ लगवा रखे थे। उनका प्रबन्ध जैसा इन बाग़ों की रखवाली का तब था, वैसा ही अब भी चला आता है। ये बाग़ उनके मकान से बिलकुल लगे हुए हैं।

दीनानाथ बाबू की लड़की राधा इन बाग़ों में घूमने आई है। वह दस वर्ष की है। गाँव की कन्या पाठशाला में वह पढ़ती है। सायंकाल वह इन बागों की सैर करने को प्रायः नित्य आती है। वैसे तो मोहन सदा काम में लगा रहता है। काम न भी हो, तो भी घर पर उसका उपस्थित रहना तो आवश्यक ही है। फिर भी, जब कभी उसे समय मिलता है, वह भी इन बाग़ों में घूमने चला आता है। संयोग से आज मोहन भी चला आया है। और इन दोनों के साथ एक मज़दूर और भी आया है। मोहन और राधा जो आम पसन्द करेंगे, मज़दूर उन्हीं को तोड़-तोड़ कर डलिया में डालता जायगा। ऐसा ही तय कर रखा गया है।

मोहन अवस्था में राधा से दो वर्ष बड़ा है। इसलिए वह उसे नाम लेकर पुकारता है। जब वह आया था, तब राधा उससे बोलने में सकुचाती थी। धीरे-धीरे जब उसकी शरम खुली, तो वह मोहन से "भैया" कहने लगी। भाई-बहन का यह नाता तब से बराबर चल रहा है।

आम के एक पेड़ की डालियाँ बिलकुल झुकी हुई हैं। इस पेड़ का नाम दोनों ने सोच-समझ कर नाटू रखा है। उसका नाटा कद

है, नाम भी उसका नाटू ही ठीक भी है। हाँ, तो इसी नाटू की एक डाली पर राधा उछल कर चढ़ गई है। मोहन भी पास के एक दूसरे पेड़ के निकट खड़ा हुआ उसके पके, पीले और लाली लिये हुए आमों की बहार देख रहा है।

एक पके आम को राधा तोड़कर खाने लगी। वह बड़ा मीठा निकला। उसकी इच्छा हुई कि थोड़ा-सा मोहन को भी चखाया जाय। बोली—मोहन भैया, अरे ओ मोहन भैया! अरे कहाँ चले गये?

मोहन जब से इस परिवार में आया है, तब से वह एक दम से बदल गया है। कोयल, मैना, उल्लू, बिल्ली, सियार, गदहा तथा कुत्ता आदि पशु-पक्षियों की बोली बोल-बोल कर वह इस परिवार के लोगों को सदा हँसाया करता है। वह बड़ा चिलबिला है। कभी कभी काम करते-करते बीच में उपर्युक्त बोलियाँ बोल कर राधा की माँ को, जिन्हें वह खुद भी 'अम्मा' कहता है, यकायक चौंका दिया करता है।

हाँ तो मोहन वहीं से बोल उठा—"एँ-एँ।"

भेड़ की बोली वह इसी प्रकार बोलता है। फिर वह दौड़ पड़ा और चट से राधा के निकट जा पहुंचा।

राधा एक आम को चाकू से तराश कर खा रही थी। चटख़ारे लेते हुए बोली—सच कहती हूँ, भैया, बड़ा मीठा है। बस, ऐसा जान पड़ता है, जैसे मिश्री की चाशनी मिला दी गई हो। यह लो, ज़रा चखकर देखो।

उसी आम में से एक बड़ी दलदार फाँक उसने मोहन को दे दी।

आम की उस फाँक को लेकर मोहन भी एक दूसरी डाल पर बैठ गया और खाने लगा। और भी दो आम तोड़ गये और दोनों ने एक दूसरे को अपने-अपने आमों का भाग देकर खाया। आम खा चुकने पर फिर उसी तरह के आम तुड़वा कर मज़दूर के हवाले किए गए।

अब जामुन खाने की बारी आई।

यह बाग जाड़ों, गर्मी और बरसात तीनों फसलों में अपने अतिथियों का स्वागत किया करता है। गर्मी और बरसात में इसमें आम और जामुन रहते हैं और जाड़ों में अमरूद। लगाया भी वह इसी कायदे के साथ गया है। एक कतार आम की, फिर एक कतार जामुन की, और फिर अमरूद की। हाँ, तो ज़रा हटने की देर थी कि राधा और मोहन, दोनों जामुन के निकट आ पहुँचे।

मोहन तो ठहरा नटखट लड़का। झट से चढ़ गया जामुन के पेड़ पर। कुछ पके जामुन तोड़ तोड़कर वह एक थैले में भरने लगा।

राधा से रहा न गया। वह बोली—"देखो भैया, डाल पकड़ कर उसे झकझोर तो दो एक बार। पके जामुन झट गिर पड़ेंगे। इस तरह मैं भी नीचे गिरे हुए जामुन खा सकूँगी, तुम तो ऊपर उड़ा ही रहे हो।"

वैसे मोहन खुद भी ऐसा सोच सकता था। पर उसने ऐसा करना इसलिए ठीक नहीं समझा कि पके हुए जामुन जब ज़मीन पर गिरते हैं, तो वे बुरी तरह घायल हो जाते हैं और उनमें मिट्टी भर जाती है।

मोहन ने कहा—"ज़रा ठहर जाओ, राधा, मैं अभी थैला भर कर उसे नीचे पहुँचाए देता हूँ।"

राधा बोली—"नहीं, मैं तब तक ठहर नहीं सकती। तुम जो कहते हो, वह है तो बिलकुल ठीक बात, लेकिन मुझ में इतना धैर्य हो तब न! वैसे चाहे हो भी जाता, पर तुम खुद भी तो कभी-कभी एक आध जामुन खा लेते हो। ना भाई, मुझ से सहन न होगा।"

मोहन ने सच पूछो तो एक ही जामुन खाया था। उसने देखा, राधा ऐसा नहीं चाहती, तो उसने खुद भी खाना बन्द कर दिया। बोला—"डाली हिला देने से कच्चे और अधपके जामुनों के गुच्छे भी नीचे आ जायँगे, इसीलिए इन्हें गिराता नहीं हूँ। और जो कहती हो कि मैं खुद खाता हूँ, सो मैं भी तब तक न खाऊँगा जब तक थैले को भर कर नीचे न आ जाऊँगा।"

राधा ने पहले तो कह दिया। पर जब उसने मोहन का उत्तर पाया, तब वह अपनी बात पर आप ही सकुचा गई—अरे! मैंने यह कैसी बात कह दी। मोहन भैया उतने ऊँचे पर चढ़ कर जामुन तोड़ रहे हैं। अगर वे कुछ खा ही लेते हैं, तो क्या बुरा करते हैं।"

"यह लो, थैला भी भर गया। अब मैं उतरा आता हूँ।"

मोहन नीचे उतर आया, थैला राधा की ओर करके बोला—"चलो, वहाँ बेंच पड़ी है, वहीं बैठ कर खायँगे।"

बेंच पर बैठकर मोहन जब राधा को जामुन देने लगा तो उसने कहा—"मैं नहीं खाऊँगी। इच्छा नहीं है।"

मोहन बोला—"एँ! खाओगी क्यों नहीं? तो, इतने ऊँचे पेड़ पर चढ़ कर मैंने इन्हें तोड़ा किस लिए है? न खाओगी तो मैं इन्हें कुएँ में फेंक दूँगा। खाना दूर रहा, मैं इन्हें छुऊँगा भी नहीं। अच्छा बोलो, मेरी किस बात से तुम इस तरह रूठ गई हो?"

राधा चुप थी। वह कुछ उत्तर देना चाहती थी। वह पूछना चाहती थी कि मैंने तुमसे कहा कि तुम अकेले-अकेले खा रहे हो, सो तुमने इसका कुछ बुरा तो नहीं माना। एक सीधी-सी बात थी—कितनी भोली और कैसी कोमल! पर वह इसे न कह सकी।

तब मोहन ने ज़ोर से कहा—"बोलो, खाओगी या मैं इन्हें कुएँ में फेंक दूँ?"

राधा ने आँखों में आँसू भर लिये। मुरझाए हुए मुख से उसने कहा—"तो तुम मेरे कहने का बुरा क्यों मानते हो?"

मोहन बोला—"मैंने कुछ भी बुरा नहीं माना। बुरा मानने की इसमें बात ही क्या थी? तुम भी राधा इतनी पगली हो कि ज़रा-ज़रा सी बातों में अपने मन से कुछ-का-कुछ समझ कर इतनी उदास हो उठती हो! यह लो, खाओ जामुन!"

बेंच पर बैठ कर दोनों जामुन खाने लगे।

(४)

गर्मी के दिन हैं। राधा को चेचक ने बुरी तरह से व्यथित-विपन्न कर रखा है। उसका सारा बदन एक-एक अँगुल बड़ी फुंसियों से बुरी तरह जल-सा गया है। मोहन रात-दिन राधा की परिचर्या में रहता है। वह उसकी फुंसियों का मवाद धोता है, उसे नहलाता है, उसकी धोती धोता है। इसके सिवा दिन-रात वह उस पर पंखा झला करता है। दीनानाथ बाबू और उसकी धर्मपत्नी उसकी इस सेवा से बहुत प्रसन्न हैं। सेवा-कार्य में मोहन की अन्तरात्मा कितनी उज्ज्वल है, कितनी उच्च, यह जानने का उन्हें यह एक अच्छा अवसर मिला है।

एक दिन राधा की माँ ने कह भी डाला। बोली—"मोहन,

मैं तो राधा की माँ हूँ, उसे मैंने तो अपनी कोख से पैदा किया है, लेकिन इतनी सेवा तो मुझ से भी नहीं हो सकती! तू इतना निकट का सहोदर भाई न होते हुए भी जी-जान से उसकी सेवा में ऐसा तत्पर रहता है। मैं दिन-रात यही सोचती रहती हूँ कि तू उसका भाई होकर ही जैसे हम लोगों को आ मिला है।"

मोहन बोला—"माँ, सहोदर होने से ही कोई भाई थोड़े ही हो जाता है! भाई और बहिन का पवित्र नाता तो हमारी आत्मा के भीतर से उमड़ कर पैदा होता है।"

राधा की माँ सोचने लगी—इस समय यह कैसी ऊँची बात इसने कह दी। सचमुच यह बड़ा समझदार लड़का है।

उस दिन रात को तीसरे पहर तक बराबर बड़ी उमस रही। एक तो अत्यधिक गर्मी के कारण यों ही बेचैनी कम न थी, दूसरे फुंसियों में जलन होने के कारण राधा और भी विकल हो रही थी। राधा की माँ और दीनानाथ बाबू को नींद आ गई थी। रात भी अधिक बीत गई थी। मोहन अब भी राधा पर पंखा झल रहा था। राधा बोली—"अब तुम भी सोओ भैया, रात ज्यादा हुई। तुम्हारे हाथों में दर्द होने लगा होगा।"

मोहन बोला—"तुम बेचैनी से कराहती हो और मैं सोऊँ! यह कैसे हो सकता है?"

राधा की आँखों में आँसू छलछला आये।

राधा अब वैसी अबोध न थी। उसने तेरह वर्ष की होकर चौदहवें में पदार्पण किया था। सरल नव-यौवन की स्वाभाविक हिलोरें उसके विमल मानस में भी कभी-कभी तरंगित हो उठती थीं। इधर मोहन की इस सेवा ने उसके हृदय में घोंसला बना लिया था।

राधा बोली—"तुम्हें क्या हो गया है, मोहन भैया ?"

"कुछ तो नहीं" कहकर वह कुछ मर्माहत-सा हो उठा।

एक ठंडी, हाहाकारमय निःश्वास लेकर राधा बोली—अब तो यही इच्छा होती है, मोहन भैया, कि बस मृत्यु की गोद में समा जाऊँ।

राधा अभी तो यौवन के नन्दन-वन में प्रवेश ही कर पायी थी ! जीवन की अमृतमयी, प्राणमयी, प्रलय पवन, रजनीगंधा का तरंगित समीरण और वासंती-लता का आलोड़न-उत्पीड़न अभी उसकी अनुभूति के बालापन से आँक ही कहाँ पाया था। फिर भी मानवी आत्मा के अन्तरतम में समुस्थित होने वाली भावनाएँ अपने मृदुलस्पर्श से कभी-कभी उसे, एक छोर से दूसरे छोर तक झकझोर ही जाती थीं। वह सोचने लगती—"अब ! अब इस श्रीहीन शरीर का होगा क्या ?"

मोहन ने उत्तर दिया—"इतनी निराश क्यों होती हो राधा ?"

राधा आँसू टपकाते हुए बोली—"तुम ! तुम क्या जानो कि मैं क्यों ऐसा चाहती हूँ !"

मोहन कहने लगा—"इस स्थल पर तुम भूलती हो राधा ! क्या अपने भीतर की बातें सदा कहने से ही प्रकट होती हैं !"

राधा सिसक-सिसक कर रोती रही।

(५)

राधा अब नेत्र-हीना थी।

दीनानाथ बाबू और राधा की माँ के जीवन का चरम सुख राधा में ही अंतर्हित था ! यद्यपि उनके और भी संतानें हुईं थीं,

पर वे जीवन न पा सकीं थीं। वे हँसती खेलती हुई, एक झाँकी-सी दिखाकर अन्तर्धान हो गईं थीं। केवल राधा ही उनकी आशा की वेलि, आँखों की ज्योति, हृदय की प्रतिमा और जीवन की निधि के रूप में बच रही थी। और वह राधा भी जो कभी रूप में चन्द्र-कला, कोमलता में मल्लिका, वाणी में प्रियम्वदा और सरलता में मृग-छौनी जैसी रही होगी, अब नेत्र-हीना थी।

दिन बीत रहे थे।

मोहन राधा के निकट ही बना रहता। क्योंकि जब राधा अकेली रहती, उसे बड़ा कष्ट होता। जब कोई उसके पास बैठकर उससे बातें किया करता, तब वह अपने जीवन के भविष्य की कल्पनाएँ भूली रहा करती थी। बातचीत में उसका जी उलझा रहता था। और जब वह अकेली होने को होती, तो मोहन उसके पास पहुँच जाता। वह उसे पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नई-नई कविताएँ सुनाया करता। एक-एक अक्षर सीखते-सीखते अपने जीवन के इन आठ वर्षों में उसने इतना अभ्यास कर लिया था।

एक दिन राधा बहुत प्रसन्न देख पड़ी। उत्साह से उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह बोली—"मोहन, मोटे सफ़ेद कागज की एक कापी ले आओ और पेंसिल लेकर यहाँ बैठो तो! मैं कुछ बोलूँगी; तुम लिखते जाना।"

कापी और पेंसिल लाकर मोहन निकट बैठते हुए बोला—"हाँ राधा, ले आया। बोलो, मैं लिखता हूँ।"

राधा बोलने लगी—

"टूटे तार हृदय वीणा के,
नाद नहीं, झंकार नहीं।

प्रतिध्वनि नहीं, प्रेम प्रतिदानों,
की प्यारी मनुहार नहीं ॥"

राधा और भी आगे लिखाती गई। मोहन जब लिख चुका, तो इस पद्य को झूम-झूम कर गाने लगा।

राधा बोली—मोहन, तुमने यह गाना कहाँ से सीखा? इस से पहले तो कभी मैंने तुमको गाते हुए देखा-सुना नहीं।

मोहन ने उत्तर दिया—"और इससे पहले राधा को भी तो मैंने कभी कविता लिखते नहीं देखा।"

राधा के हृदय में एक गहरी चोट-सी जा लगी। वह बोली—"मोहन, तुमको हो क्या गया है?"

मोहन ने कहा—"राधा, यह प्रश्न तो अब पुराना पड़ गया है!"

राधा अवाक् होकर देर तक कुछ सोचती रही।

दूसरे दिन की बात है।

राधा बोली—"आखिर, तुम चाहते क्या हो मोहन?"

राधा की आत्मा आज सजग थी। उसके शब्दों में ओज था, वाणी में आवेग। उसके जलते हुए शब्दों से लपटें-सी निकल रही थीं। मोहन पहले तो चुप ही रहा। आखिर वह कहता ही क्या? राधा के इस प्रश्न ने, विशेष रूप से उसकी 'टोन' ने उसकी आत्मा को हिला दिया था। मानवी आत्मा की दुर्बलता में प्राण नहीं होता, एक झटके-मात्र से वह काँप उठती है। सो मोहन के मन का चोर भी जी चुरा रहा था।

राधा बोली—"बोलो, अब उत्तर क्यों नहीं देते?"

मोहन को कहना पड़ा—"मैं जो कुछ चाहता हूँ, वह क्या

तुमसे छिप सका है ?"

राधा बोली—"तो यही ठीक है न कि तुम मुझे चाहते हो ? मुझे प्यार करते हो ?

मोहन चुप रहा।

और उसका मौन ही उसकी 'हाँ' थी।

"लेकिन अगर तुम बुरा न मानो, तो एक बात कहूँ।" राधा बोली।

"कहो !" मोहन ने उत्तर दिया।

राधा—"अगर तुम मुझे चाहते हो, मेरे सच्चे-प्रेमी हो, तो अपनी आत्मा की मलिनता को अपने में से निकाल कर फेंक दो। मुझे देखो, मुझ पर दया करो, क्योंकि मैं एक दुखिया नारी हूँ। वे अन्तर्यामी बड़े समर्थ हैं, उन परम पिता की लीला विचित्र है। उन्होंने हमारे भीतर परम प्रकाश भर दिया है। मैं उसी के पीछे-पीछे चलना चाहती हूँ। तुम, मेरे भाई, मेरे प्यारे, अगर मुझे चाहते हो, तो तुम भी मेरे पीछे-पीछे क्यों नहीं चले चलते ! दुर्बलताएँ मुझ में भी हैं। मैं भी कभी-कभी मार्ग से भटक जाती हूँ; क्योंकि आखिर हूँ तो मैं अँधी ही। पर, तुम दोनों आँखों को ज्योतिर्मय रखते हुए भी पीछे से पुकार कर क्यों नहीं कह देते कि उस मार्ग में कंटक हैं—गर्त हैं। उधर न चलो। परन्तु हाय ! तुम तो सन्मार्ग सुझाने के स्थान पर मेरा अँधानुकरण करते हो ! तुम तो मेरे पीछे-पीछे खुद भी पतन के गर्त में गिरना चाहते हो ! कैसे तुम प्रेमी हो ! न मुझे बचाते हो—न अपने आपको !"

मोहन को जैसे काले साँप ने काट खाया हो !

राधा कहती ही गई—"फिर, मैं तुम्हें भैया कहती आई हूँ !

तुमने अनेक बार बहन के नाते अपने भाल पर मुझ से रोरी लगवाई है और मैंने तुम्हारे राखी बाँधी है ! छिः तुम्हारा यह पतन ! तुमने बहन के प्यार की पवित्रता को अपने हृदय की दुर्बलता के हाथ बेच दिया ! तुमने यह क्या किया मोहन ?"

मोहन राधा के पैरों पर गिरकर रोता रहा।

(६)

कई वर्ष बीत गये।

अब न दीनानाथ बाबू हैं न उनकी धर्मपत्नी। बाल-ब्रह्मचारिणी, वृद्धा और अँधी राधा रह गई है और उसका बूढ़ा भाई मोहन। दीनानाथ बाबू मरने के पहले अपनी सम्पत्ति के भावी उपयोग के लिए एक ट्रस्ट बना गये थे। 'वसीयत नामे' के अनुसार ये दोनों प्राणी निर्वाह-मात्र के लिए पचास रुपये मासिक पाते हैं। बाकी आय अंधों के विद्यालय के काम आती है। राधा स्वयं भी इस विद्यालय के छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाया करती है—

मोहन अब भी कभी-कभी गाया करता है—

"टूटे तार हृदय-वीणा के, नाद नहीं, झंकार नहीं।
प्रति-ध्वनि नहीं; प्रेम-प्रतिदानों, की प्यारी मनुहार नहीं ॥"

कोमल स्वरों के साथ जब उसके भीतर का अवसाद आकर मिल जाता है, तभी वह श्वेत-केशी राधा पोपले मुँह से कह उठती है—देखती हूँ मोहन, तुम्हारा पागलपन अभी तक नहीं गया है। इस पर मोहन का गान रुक जाता है, उसके चेहरे की झुर्रियों पर लाली की एक क्षणिक रेखा चमक कर मिट जाती है और वह फीकी हँसी हँसकर कहता—राधा ठीक कहती है।

——※——